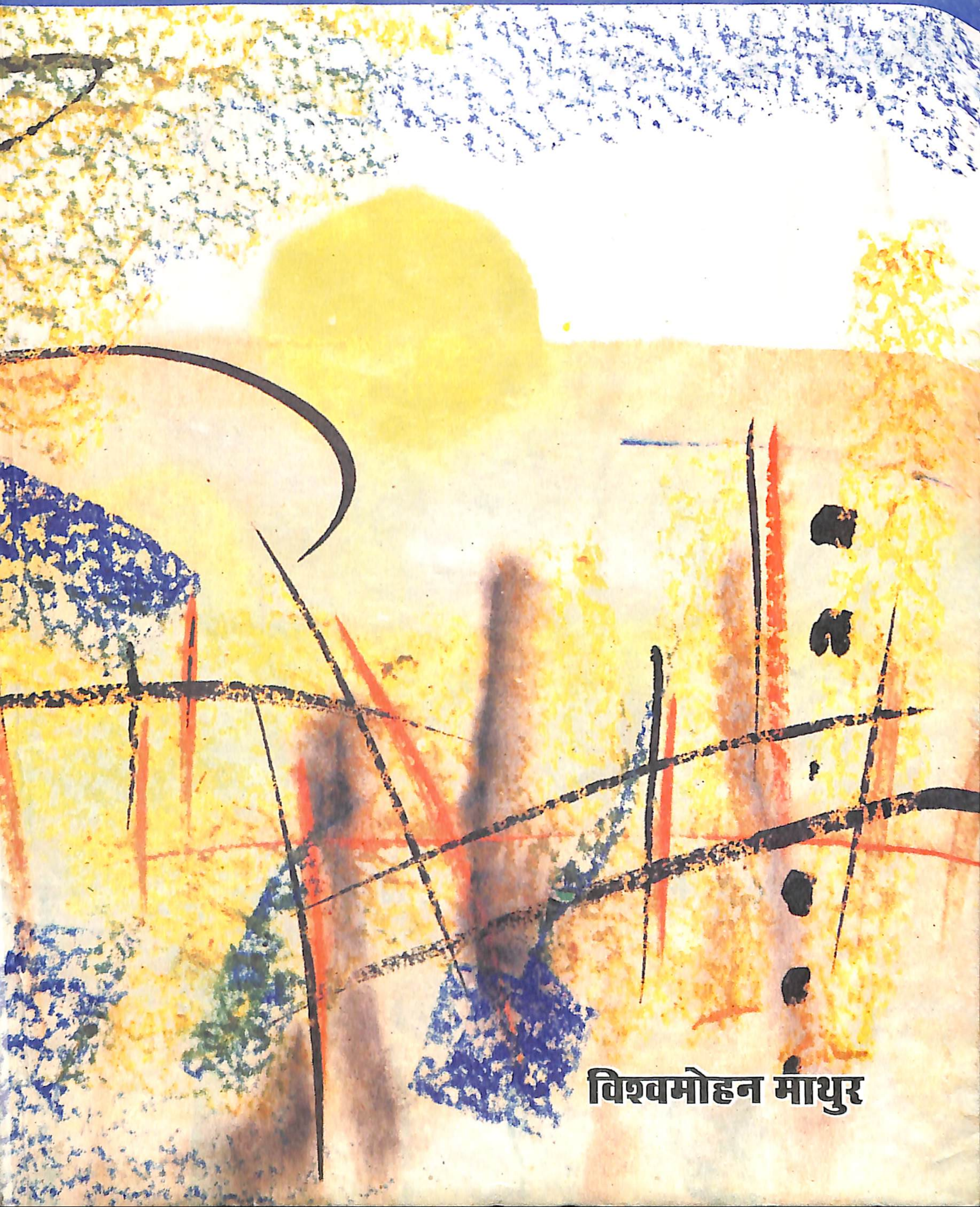
आँगन का आकाश



आँगन का आकाश



राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर

मोतिया पार्क, भोपाल

आँगन का आकाश

(उपन्यास)

विश्वमोहन माथुर

ISBN-81-89350-01-3

राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर
मोतिया पार्क, भोपाल
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : वर्ष 2004
लेखक : विश्व मोहन माथुर
आवरण : उदय खरे
मूल्य : 100. 00 रुपये

शब्द संयोजन–
मार्केट मूवर ग्राफिक्स , भोपाल
भार्गव प्रेस
इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

Aangan Ka Aakash : by Vishwa Mohan Mathur

यह उपन्यास
श्री रवि बिलगैयां
और
श्री यशवंत व्यास के लिए

पुराने पते पर नई चिट्ठी पोस्ट करना

दोस्तो।

पुराने पते पर डाली गई चिट्ठियां जब मिलती हैं तो कितनी खुशी, कितना विस्मय, कितना बेहतर महसूस होता है। हमारे पते पर हर बार बदलते हैं और इसकी बाकायदा सूचना भी हम अपने प्रियजन, आत्मीय, अभिन्नों को देते हैं, फिर भी कुछ छूट जाता है। कई रिश्ते स्मृतियों से तनिक खिसक जाते हैं, विलग जाते हैं, छिटक जाते हैं, उन्हें हम सूचित नहीं कर पाते।और वे पुराने पते पर ही हमें खत डाल देते हैं। जब यह खत पता बदल गया है। के उलहाने के साथ नए पते पर भेजा जाता है, तब हमें अपनी भूल का अहसास होता है कि इस प्रियजन को हम सूचित करना भूल गए थे।

हमारे पते, हमारे अनुभव, उम्र और आवश्यकता के अनुरूप बदलते रहते हैं। कभी हमारा पता शिशु की खिलखिलाहट का आनंद नगर होता है तो कभी यौवन का उन्मादपुर तो कभी प्रौढ़ावस्था का अनुभव नगर और अंततः बुढ़ापे का अंतिम नगर। यह अंतिम नगर हमें उस स्थान पर पहुंचाता है जहाँ स्वाहा-स्वाहा के अलावा कुछ नहीं होता।

रचना संसार का भी अपना अलग पता होता है। कभी कविता, कभी कहानी, कभी व्यंग्य, कभी निबंध, कभी उपन्यास। ये सब अलग-अलग मनःस्थितियों के पते हैं। यूं कहूं कि इस समय मेरा पता "आँगन का आकाश" है तो यह पता सच और आज के करीब है। नए घर में प्रवेश की जो सुखद अनुभूति होती है, कुछ वैसा ही मैं इस वक्त महसूस कर रहा रहूं।

"आँगन का आकाश" मेरा नया घर जरूर है लेकिन इसके निर्माण में पूरे 52 साल का समय लगा। कोई मकान लंबे समय तक बनता रहे लेकिन केवल रहने लायक दो कमरे, किचिन और छोटा सा आँगन ही आपके हिस्से में आए और मकान फिर भी बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा हो तो आपको कई सुख एक साथ मिलेंगे।

आप एक हिस्से में रह रहे हैं और आपके घर के कुछ हिस्सों का निर्माण भी निरंतर चल रहा हो तो आप किस तरह रिएक्ट करेंगे? यही हालात इन दिनों मुझ पर तारी है।

पिछले आठ साल में बहुत कुछ बदल गया। कैसे बदला, क्यों बदला? पता नहीं लेकिन मेरा आनंद नगर का पता कहीं गुम हो गया। वह नगर शायद अतिक्रमण का शिकार हो गया। वहाँ अब क्या है और पहले क्या था। बहुत कुछ पुनर्जन्म सा।

लेखन के लिए जिस तरह की सुविधाएं चाहिए होती हैं, वे कभी जुटा नहीं पाया। कभी-कभी दिन-रात लिखा और कभी-कभी महीनों कलम पकड़ने से डर लगा। कोई और ही है जब वह आता है तो लिखता है और चला जाता है तो लिखना असंभव लगता है।

मैं खूब-खूब लिखना चाहता हूँ लेकिन खुद को लिखने से बचाये रखने की साजिशें भी साथ चलती हैं।

परिवार कम होता जाता है फिर इसके उलट बढ़ता जाता है। बेटी घर छोड़ती है तो एक घर और हमारे साथ जुड़ जाता है। कभी-कभी पुराने संबंध फिर नए संदर्भों के साथ पुलकित करते हैं। राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर के संचालक भाई जयशंकर दीक्षित ने २० बरस पहले "छत बयान देती है" कविता संग्रह प्रकाशित किया था, अब "आँगन का आकाश" के माध्यम से एक चिट्ठी आप सबके पुराने पते पर पोस्ट कर रहा हूँ। यह चिट्ठी कैसी लगी? जवाब जरुर दीजिएगा।

आपका

दिनांक : 17 जनवरी 2004

विश्वमोहन माथुर

4/10, रविशंकर नगर, भोपाल-16

दूरभाष : 2467106

दूरवार्ता : 98260 88463

आँगन का आकाश

इस दुनिया का अर्थ क्या है? आदमी का अस्तित्व क्या है? निरंतर चल रहे जन्म-मरण का चक्र क्या है? संबंधों की व्याख्या क्या है? कोई किसी का पिता, माता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री और पत्नी है तो फिर इन रिश्तों में इतनी जटिलता क्यों है? मित्र हैं तो फिर व्यक्ति अकेला क्यों है? सारे संबंध एक समय में निरर्थक क्यों नजर आते हैं? मेरे जेहन में केवल सवाल दर सवाल हैं। इतनी लंबी जिंदगी जीने के बाद भी मेरे रूमाल में प्रश्नों की गांठें हैं और उत्तरों की खोज में मैं रोज भटकता हूँ।

पहला सवाल यह है कि मैं जिंदा क्यों हूँ? मेरी जरूरत क्या इस दुनिया को है? परिवार को है? समाज को है? और उससे भी बढ़कर यह सवाल कि क्या मुझे जरूरत है? सवाल का सही-सही जवाब मेरे पास नहीं है। यह सवाल हमेशा मुझे बेचैन रखता है। मैं भला हूँ या बुरा इसका फैसला भी मैं नहीं कर पाता। मैं महज एक नाम हूँ जो रोज पुकारा जाता हूँ। एक संबंध हूँ जो चंद लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। सोचता हूँ कि मैं अपने माता-पिता की गलती का परिणाम हूँ तो यह भी अर्धसत्य हैं मेरे जन्म की जरूरत क्या रही होगी? मैं पैदा हुआ होऊंगा तो क्या सब प्रसन्न हुए होएंगे या नहीं?

रमा की शादी में 90 वर्षीया मामी जी मिल गई थीं। मुझे देखते ही मेरी पत्नी से बोलीं- ''बहू! राधा की शादी में संवेद एक साल का था। इसकी हालत मरणासन्न थी। वह तो ऊपर वाले की कृपा रही कि यह बच गया। उस समय सभी चिंतित थे कि शादी के ऐन मौके पर यह मर न जाए अन्यथा रंग में भंग पड़ जाता। ऊपर वाले ने लाज रखी और इसकी बंद होती सांसें फिर से चल पड़ीं। आज इस बात को 52 साल हो गए। यह ईश्वर का चमत्कार ही है कि डॉक्टर ने जवाब दे दिया था लेकिन ऊपर वाले डॉक्टर ने इसे जीवनदान दिया।'' मामी जी जब उक्त प्रसंग का वर्णन कर रही थीं तब उनके चेहरे पर असीम प्रसन्नता झलक रही थी और मेरी पत्नी को लग रहा था कि कोई अजब सी कहानी मामीजी सुना रही हैं।

मैंने भी अपनी माँ से कई बार सुना कि मैं राधा जीजी की शादी में मरते मरते बचा था। मैं आज सोचता हूँ कि उस वक्त मैं मरा क्यों नहीं? मर जाता तो ज्यादा अच्छा होता। लेकिन हम जो सोचते हैं, वह होता है क्या? मुझे जीवित रहना था इसलिए ईश्वर ने प्राण दान दिया। काश! ईश्वर मुझ पर इस कदर मेहरबान न होता तो अच्छा होता। माता-पिता नहीं रहे। वे एक-एक करके चले गए। पहले माँ गईं। माँ को मैंने देखा था शुरू-शुरू में। बहुत सुंदर थीं। उन दिनों बहुत छोटा रहा होऊंगा। कई बार माँ ने मुझे प्यार किया होगा, डांटा होगा और कभी-कभार शायद मारा भी होगा। माँ चली गईं। पिता अकेले रह गए। बुधनी घाट पर माँ की अस्थियां विसर्जित करने हम भाई और कुछ रिश्तेदार एक जीप में लदकर गए थे। पिता ने अस्थियां विसर्जित करते हुए मुझसे कहा- "बेटे संवेद! अगले साल तुम्हें फिर यहाँ आना होगा।" मैं चौंका "क्यों पिताजी?" पिताजी ने बड़े ही निष्प्रभभाव से कहा- "तुम्हें मेरी अस्थियां विसर्जित नहीं करनी हैं क्या?" मैं हतप्रभ रह गया। उस समय भाई हमसे दूर थे उन्होंने उक्त संवाद नहीं सुने। पिताजी वाकई में एक साल के भीतर ही परलोक चले गए। पिताजी को कितना सच्चा पूर्वाभास था। बाद में जब पिताजी जी की अस्थियों के विसर्जन की बात आई तो भैया उनकी अस्थियां संगम ले जाना चाहते थे लेकिन जब मैंने उन्हें उक्त प्रसंग बताया तो हम सब बुधनी घाट ही गए। बड़े भैया ने सब कर्मकांड किया। मैं मूक दर्शक की तरह पिता की अस्थियां नर्मदा में विलय होता देखता रहा। राख की एक मटमैली लकीर कब नर्मदा में घुल गई किसी को पता ही नहीं चला। उस दिन मैंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि कुल मिलाकर मनुष्य एक मुट्ठी राख है।

पिताजी मेरे हीरो थे। दुनिया में मुझे सबसे बड़ा आदमी लगा तो अपना पिता। पिताजी के सामने मुझे सारे पुरुष बौने, अधूरे और अपंग लगते थे। पिता को जानने की समझ मुझमें कब आई, यह मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि मैं उस समय कितनी उम्र का रहा होऊंगा लेकिन पिताजी के कई रूप, कई रंग मैंने देखे और मैं सदैव उनसे प्रभावित रहा। चौड़ा माथा, रोबदार मुस्कान, लंबी नाक, हल्की मूंछे, ऊंचा-पूरा कद। कोट, पेंट टाई में खूब जमते। गर्मियों में हेट लगा लेते तो पूरे अंग्रेज अफसर लगते। जिस गाँव में हम रहते थे, उसमें ज्यादातर दिगंबर जैन संप्रदाय के परिवार थे। कुछ किरार, एक ब्राह्मण परिवार। दो मुसलमान, कुछ काछी एक-दो चमार और मेहतर। कायस्थों के कुल दो घर थे। एक हमारा और दूसरा कमला बाई का। कमला बाई का पति मर गया था। जवानी में विधवा हुई कमला के दो लड़के और एक लड़की थी। कमला के घर छोटे महाराज का बहुत आना-जाना था और बाद में हमें पता चला कि छोटे महाराज ने कमला के

कारण शादी नहीं की। छोटे महाराज के जुड़ाव के कारण उस परिवार की प्रतिष्ठा में दाग लग गया था लेकिन कमला और छोटे महाराज को इससे आजीवन कोई अंतर नहीं पड़ा। अब सोचता हूँ कि प्रेम किसी की कोई परवाह नहीं करता।

गाँव पर हुकूमत सेठ चमनलाल की चलती थी। लंबी-ऊंची हवेली। चमनलाल के पांच लड़के, चार लड़कियां। भरा पूरा परिवार। हजारों बीघा जमीन, ब्याज पर चलता पैसा। वह चमनलाल भी पिताजी को उठकर प्रणाम करता तो मेरा सिर हिमालय हो जाता था। मेरे मन में बस यही रहता कि बड़ा होकर पिता जैसा बनूंगा। गाँव का नाम था गुरारिया। गाँव में पहले कुछ नहीं था। पिताजी ने प्राथमिक शाला खुलवाई। उसका भव्य भवन बनवाया। जब स्कूल की बिल्डिंग बन रही थी, तब गाँव के सारे छोटे-बड़े लोगों ने श्रमदान किया था। मैं कुछ ईंटें तगाड़ी में डालकर मिस्त्री के पास ले गया था। पिताजी ने तब मुझे इनाम दिया था एक चवन्नी और उस चवन्नी को पाकर जो खुशी उस वक्त हुई थी, उसे मैं आज भी महसूस करता हूँ। स्कूल की बिल्डिंग फाटफट बन गई थी। कलेक्टर आए उन्होंने उसका लोकार्पण किया। पिताजी के प्रयास की सराहना की। उसी समय मुझे अहसास हुआ कि मैं महान पिता का पुत्र हूँ।

गुरारिया में हमारा मकान दो मंजिला था। एक बालकनी थी जिसे छज्जा कहा जाता था। माता-पिता और हम दो भाई दो बहनें थे। बाद में एक भाई और हमारे परिवार में शामिल हो गया। बड़े भैया को पिताजी ने शहर पढ़ने भेज दिया था इसलिए घर का बड़ा बेटा मैं ही था। जहाँ कहीं भी जाना होता माँ मुझे ही भेजती थीं। माँ भी पिताजी की तरह व्यवहार कुशल मृदु भाषिनी और विदुषी महिला थीं। पूरा गाँव उनका आदर करता था। महिलाओं की वे लीडर थीं। भजन-कीर्त्तन में वे सबसे आगे-आगे रहती थीं। उनका स्वर कोमल ओर मनोहारी था।

पिताजी को लोग इतना चाहते थे कि गाँव में यदि नया डाक्टर, नर्स, अध्यापक या कोई थानेदार आता था तो वह पहले अपनी उपस्थिति हमारे घर देता था। पिताजी सदैव हर्दिक स्वागत करते और माँ उनके लिए सुस्वादु भोजन बनातीं। माँ के हाथों में कुछ ऐसा जादू था कि उनका बनाया भोजन जो एक बार खा लेता था, वह तारीफों के पुल तो बांधता ही था साथ ही वह इस कोशिश में रहता कि दूसरी बार कितने जल्दी उसका नंबर लगता है।

गाँव में घोर गरीबी थी। अधिकतर परिवार जैसे-तैसे गुजारा करते थे। सेठ जी और हमारे परिवार को छोड़ दें तो गाँव शून्य था। हमारे घर के पास जैन परिवार, एक ढीमर परिवार और छोटे महाराज के घर थे। पंडित परिवार में चार भाई थे। बड़े महाराज भागवत कथा बांचने गाँव-गाँव जाया करते थे। सारा गाँव उनके पैर छूता था। गाड़ियों से गेहूँ, दाल, चावल उनके भक्त गण भेजते थे।

बड़े महाराज के दो लड़के बलराम और आत्माराम। दों लड़कियां बादामी और गिंदा जिनकी शादियां मेरे सामने ही हुई थीं। महाराजन खूब खूबसूरत थीं और माँ की पक्की सहेली इस कारण आत्माराम से मेरी दोस्ती हुई। आत्माराम मेरा पहला दोस्त था। खूब गोरा, गोल मटोल, मस्तमौला किस्म का था आत्माराम। पंडिताई की ओर रूझान होने के कारण वह मिडिल से आगे पढ़ नहीं पाया लेकिन पंडिताई में वह पिता से ज्यादा चतुर निकला। पंडित नंबर दो को जुआ खेलने का जुनून था। वे रूसल्ली गाँव में रहते थे। लेकिन उनका ज्यादा समय गुरारिया में ही कटता था। चारों भाई ताश खेलते फिर खूब लड़ाई-झगड़ा करते। पंडित नंबर दो के पास अपनी एक छकड़ी थी जिसमें चालक समेत दो सवारी बैठ सकती थीं। दो ऊंचे-पूरे बैल थे। जब छकड़ी में उन्हें जोता जाता तो छकड़ी धरती से बस छः अंगुल दूर होती थी। नंबर दो महाराज खुद छकड़ी हांकते थे। धोती कमीज और सिर पर साफा। नंबर दो महाराज खूब जमते थे। आत्माराम ने बताया था कि चाचा ने रूसल्ली में एक बेड़नी रख छोड़ी है। शादी नहीं की बस पूरा जीवन बेड़नी को समर्पित कर दिया। नंबर तीन महाराज सद्गृहस्थ थे। सामान्य दिखने वाले महाराज कभी-कभार ताश खेल लेते थे। छोटे महाराज बड़े नम्र दिल के इंसान थे। पता नहीं किन क्षणों में वे कमला पर आशक्त हुए कब जन्म-जन्म का साथ हुआ पता नहीं लेकिन विधवा कमला के बच्चों को उन्होंने पिता से बढ़कर चाहा और उनकी शादियां कीं और कमला का साथ पूरी ईमानदारी से निभाया।

गाँव में बस एक किराने की दुकान थी। चंदनमल उसे चलाते थे। चंदनमल तीन भाई थे। उनकी दुकान से किराने का सामान मैं लाता था। मैं उन्हें नकद रुपए देता था जबकि गाँव के अधिकांश लोग अपनी पोटरी में गेहूँ, ज्वार, चना, मसूर आदि अनाज लाते थे और उन्हें देकर शक्कर, तेल, साबुन जैसे सामान खरीदते थे। ढेर सारे गेहूँ के बदले चंदनमल एक बट्टी साबुन या 200 ग्राम तेल पकड़ा देता था। मुझे यह सब अज़ीब लगता था लेकिन यह भी लगता था कि मैं भी अपने घर में रखा ढेर सारे गेहूँ में से एक थैला भर गेहूँ लाकर चंदन को दूं और बदले में शकर पट्टी, मूंगफली और नमकीन सेव लेकर चोरी-चोरी खाऊं।

एक बार मैंने यही किया। एक थैले में ढेर सारे गेहूँ भरे और माँ की नजर बचाकर वह गेहूँ का थैला लेकर चंदन की दुकान पर जा पहुँचा मुझे और मेरे थैली को देखकर चंदन ऐसे चौका कि पूछो मत।

"क्यों संवेद! पैसे नहीं दिए माँ ने जो तुम गेहूँ भर लाए?"

"चाचा, माँ के पास खुल्ले पैसे नहीं थे, इसलिए गेहूँ दे दिए।"

"क्या चाहिए?"

"सौ ग्राम मीठी मूंगफली और सौ ग्राम खारे दे दो।"

चंदन ने थैला एक तरफ रखा और बिना गेहूँ तौले मुझे शक्कर पट्टी मूंगफली और खारे दे दिए। मैंने थैला वापस माँगा तो चंदन ने कहा- कल ले जाना अभी दुकान में गेहूँ रखने की जगह नहीं है।" मैं कागज की दोनों पुड़िया लिये चला आया। रास्ते में आत्माराम और सुरेन्द्र मिल गये। हमने पंडित जी के चबूतरे पर बैठकर मीठी मूंगफली और नमकीन खारे का भरपूर आनंद लिया। घर आया तो माँ ने खाना खाने का कहा तो मैंने भूख न होने की बात कही और फिर खेलने चला गया। जब शाम को लौटा तो देखा चबूतरे वाली कुर्सी पर पिताजी बैठे हैं, नीचे गेहूँ से भरा थैला रखा है। थैले को देखकर मेरे हाथ-पैर कांप गए। मैं सिर झुकाए पिताजी से नजरें चुराए घर में दाखिल होने की कोशिश कर ही रहा था कि पिताजी की आवाज गूंजी -"संवेद। इधर आओ।" पिताजी के संबोधन में काई गरज या क्रोध नहीं था फिर भी मुझे लगा कि मेरे प्राण पखेरू उड़ गए हों। मैं सहमा-सहमा उनके निकट पहुँचा। "गर्दन ऊपर करो।" मैंने थोड़ा सा चेहरा ऊपर किया फिर सुनाई दिया "ठीक से मेरी तरफ देखो।" मैंने इस बार पिताजी को कातर भाव से देखा।

पिताजी मुस्करा रहे थे। मैं आश्चर्यचकित। ठगा सा उनको देखता रहा। "तुम समझ गए।" पिताजी ने थैला दिखाते हुए कहा।

"जी।" मेरे मुंह से बस इतना निकला। "आइंदा से कभी इस तरह की हरकत नहीं करना। जाओ यह थैला लेकर अपनी माँ को दे दो।"

"जी, अब कभी ऐसा नहीं करूंगा।" कहकर मैंने थैला उठाया और अंदर पहुँचा। माँ मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। चार-पांच चांटे रसीद करके उन्होंने वह थैला बंडे में उलट दिया। में रोता रहा और रोते-रोते कब नींद लग गई पता ही नहीं। बीच में एक-दो बार माँ ने खाना खाने के लिए उठाया भी लेकिन पेट भरा था और फिर माँ के क्रोध को देखकर मेरी हिम्मत नहीं हुई कि मैं खाना खाने उनके सामने बैठूं। यह मेरे जीवन की पहली चोरी थी जिस पर में बेहद शर्मिंदा हुआ।

गाँव में प्रायमरी हेल्थ सेंटर पिताजी के प्रयासों से खुल गया था। एक वैद्य जी, एक नर्स और गाँव का गोकुल काछी कंपाउंडर बन कर उस प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में सुबह-शाम नियमित बैठकर रोगियों को देखते दवा-दारू देते। प्रायमरी हेल्थ सेंटर के लिए सेठ जी ने अपनी हवेली का पिछला पोर्शन दे दिया था। पहले वैद्य जी आए डॉ. पाण्डेय। पहली नर्स आई माला। माला की एक लड़की आशा और एक लड़का श्याम था। आशा मेरी हम उम्र थी और श्याम छोटा। माला का पति बाबूराव वेक्सीनेटर था। माला जब पहली बार गुरारिया आई तो अकेली ही आई और पिताजी से मिलने घर आई। माँ ने उसको जलपान

कराया और भोजन भी। कुछ दिनों बाद उसने सेवाराम काछी का मकान किराए पर लिया फिर अपने बच्चों और पति को भी ले आई। माला स्मार्ट और मृदुभाषी थी। आशा अपनी माँ पर ही गई थीं। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें बेहद मारक थीं। पहली बार जब उससे पहचान हुई तो मैं उसकी उन आंखों में खो गया। उस समय मैं पांचवी में पढ़ रहा था और आशा भी उसी क्लास में थी। वह जितनी सुंदर थी उतनी ही पढ़ने में कमजोर। मैं पढ़ने में तेज था और अंग्रेजी खास तौर से खूब पढ़ता था। अधिकतर वस्तुओं के नाम मैं अंग्रेजी में ही लिया करता था। क्लास में फर्स्ट आना मेरे लिए सदैव जीवन का लक्ष्य रहा।

शर्मा मास्टर हमारे इकलौते टीचर हुआ करते थे। शर्मा जी पिताजी के प्रभामंडल से अभिभूत थे इसलिए उन्होंने माँ से रक्षाबंधन पर राखी बंधवा ली और मेरे मामा जी हो गए। वे कल्लू पहलवान के घर में एक कमरा लेकर रहते थे। किराये की एवज में वे कल्लू के लड़के लखन को मुफ्त ट्यूशन पढ़ाते थे। जब वे घर आते तो मैं उन्हें मामाजी कहता और स्कूल में मास्साब बोलता। उनका परिवार अमरइया में था, वे अकेले ही यहाँ आए थे। ज्यादातर उनका भोजन हमारे घर ही होता था कभी-कभार वे अपने घर खाना बना लेते थे। उनके घर का सामान चंदन के यहाँ से लाने की जिम्मेदारी मेरी थी। वे टुकड़े टुकड़े में सामान मंगाते थे। लखन उनसे रोज पढ़ता था इसलिए शर्मा जी ने मुझे भी रोज पढ़ने आने के लिए माँ से कह दिया था। मैं भी रोज शर्मा जी के यहाँ जाने लगा था। मुझे शर्मा जी राजकुमार कहकर बुलाते थे। डॉ. पाण्डेय जी के घर भी मेरा आना-जाना था। डॉ. पाण्डेय मूलतः कानपुर वासी थे लेकिन नौकरी के चक्कर में उन्हें इस दूरस्थ और छोटे गाँव में ला पटका। डॉ. पाण्डेय अत्यंत शालीन और मिलनसार व्यक्तित्व के धनी थे। उनके परिवार में उनकी सुंदर पत्नी, गुड़िया सी लड़की कुसुम और चेचक के दागों से भरपूर सजी उनकी युवा एवं अविवाहित साली थी। कुसुम से भी दोस्ती थी। डॉ. साहब की साली का चेहरा खूब भरा-भरा था लेकिन चेचक के दागों ने उनका चेहरा छलनी कर दिया था। मैं जब भी डॉ. साहब के यहाँ जाता तो कुसुम की माँ बिना खाना खाए मुझे जाने नहीं देती थीं। मसालेदार अरबी जिन्हें गाँव में धुइयां कहते हैं वे मुझे बनाकर खिलाती थीं जो मुझे आज भी पसंद हैं। शर्मा मास्टर दिलफेंक किस्म के थे। उन्हें पता था कि डॉ. पाण्डेय के घर मेरा खूब आना-जाना है इसलिए वे मुझसे डॉ. साहब की युवा साली सुभद्रा के बारे में पूछा करते एक दिन बोले- "राजकुमार आज कुछ तबीयत ठीक नहीं लग रही। चलो डॉक्टर पाण्डेय को दिखा आते हैं।" मैंने कहा- "डॉ. चाचा और चाची तो अमरही गए हैं। कल आएंगे तब दिखा लीजिए।" शर्मा जी बोले "डॉ. नहीं है तो क्या सुभद्रा तो है।" मैंने हंसते हुए कहा- "सुभद्रा जीजी कोई डॉक्टर थोड़े ही हैं?" शर्मा जी हंसते हुए बोले- "यार राजकुमार तू सवाल बहुत करता है।

देख! तू मुझसे पढ़ता है फिर आत्माराम, विमल और सुरेन्द्र को पढ़ाता है। इसी तरह सुभद्रा डॉक्टर की साली है। सालों से डॉक्टर के साथ है। डॉक्टर को इलाज करते हुए देखती रहती है। देखते-देखते वह आधी डॉक्टरनी तो हो ही गई होगी। चल उसे ही दिखा देते हैं। डॉक्टर साहब जब आ जाएंगे तो उन्हें भी दिखा लेंगे।'' शर्मा जी के दिल में क्या-क्या गुल खिल रहे थे, मुझे पता नहीं लेकिन उनके इरादे मुझे नेक नहीं लग रहे थे। खैर! शर्मा जी से दोहरे रिश्ते थे इसलिए उनकी बात टालने की न मुझमें हिम्मत थी और न ताकत। शर्मा जी और हम डॉ. पाण्डेय के घर पहुँचे। दरवाजा सुभद्रा ने ही खोला। हमें प्रेमपूर्वक सोफा पर बिठाया। कुसुम तब तक दो गिलास पानी ले आई थी। शर्मा जी की निगाहें सुभद्रा जीजी का पोस्टमार्टम करने में लगी थीं। सुभद्रा भी शर्मा जी की ओर अपनी मुस्कान फेंक रही थी। कुछ देर इधर उधर की बातें करने के बाद शर्मा जी बोले ''सुभद्रा जी, रात को सीने में दर्द उठा और अभी भी हल्का-हल्का हो रहा था इसीलिए सोचा डॉक्टर साहब को दिखा दूं लेकिन जब राजकुमार ने बताया कि डॉक्टर साहब और भाभीजी अमरही गए हैं तो सोचा आपको ही दिखा दूं। डॉ. साहब के साथ रहते-रहते कुछ तो अनुभव आपको भी हो गया होगा। संगत का असर तो होता ही है। आपने वह दोहा तो जरूर सुना होगा- ''बांटन वारे को लगे ज्यों मेंहदी को रंग।'' मैंने महसूस किया शर्मा जी फुल रोमाँटिक मूड़ में टकटकी लगाए सुभद्रा जीजी की ओर देख रहे थे। सुभद्रा ने सकुचाते हुए कहा- ''क्या पहले भी आपके सीने मे दर्द उठा था?'' शर्मा जी ने दिल पर हाथ रखते हुए कहा- ''जी नहीं! पहली बार ही यह दर्द उठा है।''

''कोई बात नहीं, आप परेशान न हों यह टेबलेट सुबह-शाम पानी के साथ ले लें, आपका दर्द हवा हो जाएगा। जीजाजी अक्सर दिल के मरीजों को यही टेबलेट देते हैं।'' सुभद्रा जीजी ने कैंची से आठ टेबलेट काटकर एक पत्ता शर्मा जी की ओर बढ़ाया तो शर्मा जी ने शरारतन सुभद्रा की उंगलियों को छू लिया। सुभद्रा भी उस स्पर्श सुख से पुलकित हो गई। मुझे लगा शर्मा जी को सही समय पर सही डॉक्टर मिल गया। शर्मा जी वहीं जमें रहे। इस बीच चाय-नाश्ता हो गया। कई घंटे दोनों बतियाते रहे। वे दोनों मुझे और कुसुम को बच्चा समझकर वार्तालाप कर रहे थे। धीरे-धीरे शाम रात में बदलने लगी। मैं उठने लगा तो शर्मा जी ने कंधा पकड़कर बिठा दिया- ''यार राजकुमार! अब कुछ तबीयत ठीक लग रही है लेकिन फिर भी घर जाकर चार रोटी ठोकने की हिम्मत नहीं है। चलों तुम अपने घर ले चलो जीजी के हाथ का बना खाना खाएंगे।''

मैंने कहा- ''चलो। मामाजी मुझे भी तेज भूख लगी है।'' शर्मा जी उठने का नाटक करने ही जा रहे थे कि सुभद्रा जीजी ने कहा- ''आप यहीं खाना खा लीजिए कल रमुआ काछी ताज़े बैंगन दे गया था अभी आधा घंटे में खाना तैयार

किए देती हूँ। राजकुमार को भरवां बैगन पसंद हैं, आपको भी पंसद हों तो बनाऊं?'' शर्मा जी ने तपाक से कहा- ''आप जो भी बनाएंगी उसमें स्वाद तो होगा ही। स्वाद का संबंध सीधे-सीधे प्रेम से होता है। आपके आग्रह में जब इतना स्नेह है तो फिर भला भरवां बैंगनों में प्यार ही प्यार भरा होगा। अकेले रहते रहते मैं भी अच्छा-खासा कुक बन गया हूँ आप इजाजत दें तो किचन में आपका हाथ बंटा सकता हूँ।'' सुभद्रा जीजी ने आंखों को नचाकर कहा- ''आप जब तक कुसुम और राजकुमार को अंग्रेजी पढ़ाइए, तब तक खाना बनकर तैयार।'' सुभद्रा जीजी यह कहकर किचन में चली गईं। शर्मा जी ने आदेश दिया- ''कुसुम! अंग्रेजी की किताब निकालो। एक रफ कॉफी तुम लो और एक राजकुमार को दो और लेशन नंबर एट की नकल करके मुझे बताओ।'' कुसुम और मैं अपने-अपने काम में जुट गए। जब हमने पूरा काम करके गर्दन ऊपर उठाई तो शर्मा जी अपनी जगह से नदारद थे। शायद सुभद्रा जीजी का हाथ बंटाने किचन में गए होंगे। हम अपनी-अपनी कॉपियां उठाए किचन की ओर लपके। शर्मा जी सुभद्रा जीजी के होठों का चुंबन ले रहे थे, हमें देखते ही दोनों अलग हुए। सुभद्रा जीजी झेंपकर बोलीं- ''मैं शर्मा जी के सीने को देख रही थी कि अब वहाँ दर्द हो रहा है या नहीं। पहली खुराक का असर हुआ कि नहीं?'' मुझे उस समय पहली बार पता चला कि सीने के दर्द को डॉक्टर की अपेक्षा डॉक्टरनी जल्दी ठीक कर सकती है। कढ़ाई में रखे बैंगन जलने लगे थे। जलन की गंध पूरी किचन में फैल गई थी। कुसुम और हम नाक बंद करके वहाँ से भागे। हमारे पीछे शर्मा जी भी चले आए। शर्मा जी और हमने खाना खाया। शर्मा जी भरवां बैंगनों की शान में कशीदे पढ़ते रहे। रात 9 बजे खुद शर्मा जी मुझे घर तक छोड़ गए। माँ से कहा- ''जीजी, राजकुमार को अंग्रेजी पढ़ाता रहा। इसे मैंने अपने घर ही खाना खिला दिया। अच्छा अब मैं जाता हूँ।'' चंदन को गेहूँ का थैला देते हुए मैंने पहला झूठ बोला था और अब शर्मा जी द्वारा बोला गया पहला झूठ सुन रहा था। शर्मा जी की पिटाई के डर से उस रात मैं माँ को शर्मा और सुभद्रा की सत्यकथा नहीं सुना पाया इसका अफसोस मुझे आज तक है।

जब भी डॉक्टर पाण्डेय सपत्नीक अमरही जाते तब-तब शर्मा जी के दिल में दर्द उठता और वे मुझे लेकर सुभद्रा जीजी के पास जाते और पांच छः घंटे का समय वहाँ बिताकर मुझे घर छोड़ते हुए घर चले जाते। पहली बार मुझे एहसास हुआ कि मैं शर्मा जी द्वारा लगातार इस्तेमाल किए जा रहा हूँ लेकिन मैं विवश था। सुभद्रा जीजी कभी-कभी मुझे दोनों हाथों में उठाकर गोदी में ले लेती मुझे चूमतीं, प्यार करतीं और फिर धीरे से मेरे कान में कहतीं- ''राजकुमार तुम शर्मा जी वाली बात किसी को मत बताना।'' मैं मुंह पर उंगली रखकर न कहता

तो सुभद्रा जीजी मुझे अपने उरोजों के बीच दबा देतीं। उनके उन्नत उरोजों की पहली तपन मैंने अपने भीतर तक महसूस की। शर्मा जी के साथ बार-बार सुभद्रा जीजी के यहाँ जाने के कारण मुझे सुभद्रा जीजी से कुछ अलग हटकर लगाव हो गया था। शर्मा जी पर मुझे गुस्सा आने लगा था कि शिक्षक होने के बाद भी वे कितने अनैतिक हैं? कभी-कभी मुझे लगता कि माँ को सही-सही बता दूं कि उनके भाई कैसे हैं? लेकिन शर्मा मास्टर की छड़ी जो पूरे स्कूल को लाल-पीला कर देती थी, उसका डर इतना भयानक था कि शर्मा जी का काला पक्ष सदैव गुप्त ही रहा। कुसुम समझती हो, यह पता नहीं लेकिन मुझे आत्मग्लानि होती कि इस पूरे खेल का मोहरा मुझे बनाया जा रहा है।

एक दिन मुझे पता चला कि डॉक्टर पाण्डेय सपत्नीक अमरही गए हैं तो मैं खुद सुभद्रा जीजी से मिलने चला गया। गणित की किताब, पैंसिल और कॉपी लिए मैं सुभद्रा जीजी के द्वार पर था। दरवाजा जीजी ने ही खोला- "आओ! राजकुमार आज तुम्हारे साथ शर्मा जी नहीं आए?" दीदी ने असल में मुझे गणित के दो सवाल नहींआ रहे थे, सोचा आपसे पूछ लूं। शर्मा जी का घर दूर है और फिर वे दस बजे से पहले उठते ही कहाँ हैं? और दीदी एक बात कहने आया हूँ। शर्माजी का ज्यादा आना-जाना ठीक नहीं है। कल ही इमरतिया पूछ रही थी। "क्या पूछ रही थी? सुभद्रा जीजी के चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। उनके इस प्रश्न में हड़बड़ाहट और तीखी बेचैनी थी। इमरतिया उनकी हमउम्र और पड़ोसन थी। "कुछ नहीं बस यही पूछ रही थी कि जब डॉक्टर और डॉक्टरनी नहीं रहते तो शर्मा जी क्या करने उनके घर जाते हैं?" "तुमने क्या कहा?" इस बार सुभद्रा जीजी ने मेरे भरे-भरे गालों पर अपनी उंगलियों का दबाव बनाते हुए पूछा। "कुसुम और मुझे अंग्रेजी पढ़ाने आते हैं।"

"फिर इमरतिया ने क्या कहा?" इस बार सुभद्रा जीजी के चेहरे पर कई रंग आ-जा रहे थे। "अंग्रेजी पढ़ाने आते हैं या सुभद्रा को प्रेम का पाठ पढ़ाते है?"

"तुमने क्या जवाब दिया?"

"इमरतिया दीदी तुम अनपढ़ हो। तुम न स्कूल गईं न दो अक्षर पढ़े। जल्दी शादी हो गई बटेरी से गुरारिया आ गईं चार बच्चे पैदा कर दिए। तुम क्या जानों अंग्रेजी। अपने बच्चों को भी स्कूल नहीं भेजतीं और शर्मा जी और दीदी पर कीचड़ उछालते तुम्हें शर्म नहीं आती। तुम्हें जानना है कि शर्मा जी कुसुम और हमें पढ़ाते हैं या दीदी को तो तुम खुद किसी दिन आकर देख लेना।" "मैं अनपढ़ भले ही हूँ संवेद लेकिन मूरख नहीं। सुभद्रा 22 साल की हो गई अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ। तू तो बच्चा है तू क्या जाने यह जवानी क्या-क्या गुल खिलाती है। शर्मा मास्टर की आंखे ठीक नहीं हैं। मुझे देखता है तो लगता

है पूरी निगल जाएगा। तू क्या समझे नादान?'' ''इमरतिया दीदी! मैं कोई बच्चा नहीं हूँ तेरह साल का लड़का हूँ। छठवीं में पढ़ता हूँ। सब समझता हूँ।'' ''फिर इमरतिया ने क्या कहा?'' सुभद्रा दीदी ने कुछ आश्वस्त होकर पूछा।

''कुछ नहीं, कुछ बड़बड़ाती रही। मैं तो आगे चल दिया।''

''अरे! राजकुमार तुम तो बहुत ही समझदार हो। मैं भी तुम्हें बच्चा ही समझती थी लेकिन तुम इतने होशियार निकले। यह चवन्नी लो और चंदन की दुकान से पगी मूंगफली और खारे ले आओ। हम खाएंगे।'' मैं खुश-खुश चवन्नी उछालता हुआ चंदन की दुकान जा पहुँचा। पगी मूंगफली और खारे की दो पुड़िया लेकर दीदी के घर पहुँचा तो किवाड़ उकड़े हुए थे, उन्हें ठेलकर मैं दीदी दीदी पुकारता हुआ अंदर आया। दीदी कही नहीं दिखी तो मैं बाथरूप की तरफ दौड़ा। बाथरूम के दरवाजे खुले हुए थे और दीदी आदमजात खड़ी होकर लोटे से अपनी देह पर पानी डाल रही थीं। उन्हें देखकर मेरे हाथों से दोनो पुड़िया नीचे गिर गईं। शरीर में कांटे उगने लगे। मैं एक टक उनके उन्नत उज्जवल उरोजों को देखता हुआ नाभि तक आया उनकी माँसल जांघों की संद में बालों का एक गुच्छा लहरा रहा था। दीदी ने मुझे देखा तो जल्दी-जल्दी पेटीकोट पहना। ब्लाउज अपने शरीर पर उलझाया और साड़ी को सिर पर डालकर बाथरूम से बाहर निकलीं। उन्होंने गोद में मुझे उठाया फिर पलंग पर ले जाकर मुझे बाहों में भर लिया। मैं उनके उन्नत उरोजों और उखड़ी सांसों को पहचानने की कोशिश करता रहा। मुझे पहली बार एहसास हुआ कि मैं अब बच्चा नहीं रह गया।

दीदी ने भी मुझसे कह दिया कि अब शर्मा मास्टर कभी जीजी और जीजाजी की अनुपस्थिति में यहाँ आने को कहें तो तुम साफ इंकार कर देना। मुझे पता है कि उनमें इतनी हिम्मत नहीं है कि वे बिना तुम्हारे यहाँ आ सकें। मुझसे झूठ बोलते थे कि कुंआरे हैं। मौसी जी, (मेरी माँ) से पता चला कि अमरही में उनकी पत्नी और पांच साल का बच्चा है। अब कभी आएं तो उनकी खूब खबर लूंगी। तुम भी ऐसे आदमी का साथ मत देना।'' दीदी के स्वर में असहनीय वेदना और कुछ पवित्र सी वस्तु खो देने का अपराध बोध था। दीदी ने उस दिन बताया कि इंटर करने के बाद वे आगे पढ़ना चाहती थीं लेकिन एक कार दुर्घटना में उनके माता-पिता का देहावसान हो गया। कोई भाई था नहीं बस जीजी और जीजाजी थे। जीजी ने मुझे अपने साथ ले लिया। अब मेरी शादी भी दीदी ही करेंगी। हमारे यहाँ लाखों का दहेज लिया जाता है। जीजाजी और जीजी पिताजी का मकान बेचकर मेरी शादी करेंगे। शर्मा जी को देखकर लगा था कि चलो ईश्वर ने घर बैठे मेरे लिए योग्य वर भेज दिया लेकिन जब मौसी जी से बातों ही बातों शर्मा जी की हकीकत पता चली तो मेरे पैरों के नीचे की जमीन खिसक

गई। मेरा कोई भाई नहीं है राजकुमार लेकिन आज से तुम मेरे भाई हो। मेरी शादी में आओगे न भैया?" कहकर दीदी ने मुझे अपने भीतर समा लिया।

दो साल बाद पाण्डेय जी का तबादला हो गया और दीदी चली गईं। अब तो वे बहुत बड़ी हो गई होंगी, उनकी शादी हुए कई साल हो गए होंगे लेकिन संबंधों की डोर ऐसी टूटी कि कुछ पता नहीं अब वे कहाँ हैं। कुसुम की शादी का निमंत्रण पत्र जरूर आया था लेकिन जा नहीं पाया। डॉ. पाण्डेय अब रिटायर हो गए। उनका पता किसी डायरी में नोट है। कभी फुरसत मिली तो सुभद्रा जीजी की खोज में जाऊंगा।

बात उन्हीं दिनों की है जब मैं छठवीं में पढ़ा करता था। मैं घी का शौकीन था। रोटी के भीतर घी डालकर उसका रोल बनाता और अचार से खाता था। सब्जी और दाल से कोसों दूर। घर में घी की कमी नहीं थी इसलिए रोज इसी तरह पेट भरता था। यह क्रम निरंतर रहने से लेट्रिन आना बंद हो गई। दो दिन तक हाजत नहीं हुई तो पेट फूलने लगा। तबीयत बेचैन रहने लगी। इस बीच दो-एक दिन और गुजर गए। माँ ने मेरा चेहरा देखा तो घबरा गईं। पिताजी को खबर दी। मुझे आनन-फानन अस्पताल लाया गया। माला नर्स ने एनिमा लगाया इसके दो घंटे बाद ढेर सारी गंदगी बाहर आई। मैं अशक्त हो गया। माला ने ग्लूकोस घोलकर पिलाया कुछ आराम मिला तो मेरी आंख लग गई और जब खुली तो मैं अस्पताल से सीधा माला के घर में था। "मैं यहाँ कैसे आया माला मौसी?" "तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। तुम्हारे पिताजी ने एक-दो दिन के लिए तुम्हें मेरी देखरेख में छोड़ा है। जैसे ही तुम ठीक हो जाओगे तो अपने घर चले जाना। अभी-अभी दीदी (मेरी माँ) आई थी। तुम गहरी नींद में सो रहे थे। दूध-दलिया देकर चली गईं। दोपहर में फिर आएंगी। घबराने की कोई जरूरत नहीं। यह भी तुम्हारा ही घर है।" मैं बेबस पलंग पर पड़ा हुआ था। उठने की कोशिश की लेकिन लगा कि शरीर में जान ही नहीं है। सामने टेबिल कुर्सी थी जिस पर माला मौसी की लड़की आशा बैठकर होमवर्क कर रही थी। आशा ने चेहरा उठाकर मेरी तरफ देखा मैं उसकी बड़ी-बड़ी काली आंखों में डूब सा गया। माला मौसी किचन में चली गईं तो मैंने आशा को आवाज दी- "आशा जरा चम्मच से मुझे पानी पिला दो।" "अभी आई।" कहकर आशा ने अपना पेन, कॉपी और किताब बंद की और मेरे सिरहाने रखी टेबिल से कटोरा, चम्मच उठाई और चम्मच भर-भर कर पानी मेरे मुँह में डालने लगी। मेरे 'बस' कहने पर उसने चम्मच और कटोरा टेबिल पर रख दिया और अपना अधूरा होमवर्क पूरा करने जाने को हुई तो मैंने उसका हाथ पकड़कर कहा- "मौसी नहीं आ जाती, तब तक तुम यहीं बैठो। मुझे कुछ अजीब सा लग रहा है। बेचैनी बढ़ रही है।" आशा

पास ही रखी कुर्सी पर बैठ गई। आसमानी रंग की सलवार-कुर्ती और दुपट्टे पर बालों की कुछ बिंदास लटों ने उसे और खूबसूरत बना दिया था। आशा और मैं एक ही क्लास में थे। परिचय कुछ महीनों पुराना था। क्लास में विमल और मैं दोनों आशा के आजू-बाजू बैठते थे और दोनों ही हरदम आशा को इंप्रेस करने की कोशिशें करते रहते थे। कभी मुझे लगता कि आशा मेरे बेहद निकट है। मैं जब चाहूँ हाथ बढ़ाकर उसे तितली की तरह पकड़ सकता हूँ। कभी लगता कि आशा का व्यवहार विमल के प्रति भी उतना ही सहृदय, उदार और स्नेहिल है, जितना मेरे प्रति। विमल और मेरे अलावा भी इशाक नाम का एक लड़का था जो आशा को चाहता था। इशाक एक चपरासी का लड़का था। पढ़ने में जीरो लेकिन ठाठबाट में हीरो। उसने पक्की पहली में फेल होने के कारण पढ़ाई बंद कर दी थी और अपने घर की बाहरी दालान में सायकल पंक्चर सुधारने की दुकान खोल ली थी। मेरे और आशा के पास छोटी-छोटी सायकलें थीं और हम अक्सर स्कूल सायकलों से ही आते-जाते थे। गाँव की धूल, कंकड़ और कांटे भरी सड़कों पर अक्सर टायर पंक्चर हो जाया करता। कभी आशा की और कभी मेरी सायकल पंक्चर हो जाती। हम इशाक के यहाँ पंक्चर बनवाने जाते। इशाक खूब देर तक पंक्चर जोड़ता। इस बीच वह दो स्टूल इस एंगल से रखता कि आशा जिस स्टूल पर बैठी है, वह उसके चेहरे से सामने रहता। वह पंक्चर कम जोड़ता और आशा के चेहरे को टक टकी लगाए ज्यादा देखता रहता। पंक्चर जोड़ने की प्रक्रिया को और लंबा करने के लिए वह घर में रखे अमरूद हम दोनों को खाने देता और खुद भी अपना काम छोड़ कर खाने बैठ जाता। आशा को लगातार देखते रहना उसकी आदत बन गई थी। एक और बात थी कि इशाक कभी भी आशा से पैसे नहीं लेता था और मुझसे हमेशा खुश होकर पैसे माँगता था। आशा भी खुश होती कि इशाक फ्री में उसका काम कर देता था। मुझे इशाक से ईर्ष्या होने लगी। लेकिन दूसरा कोई उपाय नहीं क्योंकि उस छोटे से गाँव में एक ही पंक्चर की दुकान थी। एक दिन मैं इशाक की दुकान पहुँचा। वह सायकल का पिछला पहिया थ्रू कर रहा था। मैंने कहा- ''यार इशाक! तू मुझे पंक्चर जोड़ना सिखा दे।'' ''क्यों बेटा! पढ़ाई छोड़कर पंक्चर सुधारने की दुकान खोलने का इरादा है?'' ''नहीं यार, बात यह है कि पंक्चर सुधारना आ जाएगा तो अपनी सायकल का पंक्चर खुद सुधार लूंगा। तुझे हर बार पैसे तो नहीं देने पड़ेंगे।''

''अच्छा बेटा! मेरा धंधा चौपट करना चाहता है। मैं तुझे खूब जानता हूँ तू बहुत शातिर खोपड़ी है। लाला की औलाद है, दिमाग खूब चलता है।'' ''यार! मजाक मत कर मैं सचमुच में तुझे उस्ताद बनाकर यह हुनर सीखना चाहता हूँ।''

"ठीक है बेटा एक शर्त पर पंक्चर जोड़ना सिखा सकता हूँ। बोल मंजूर है?" "शर्त तो बता?" "यह शर्त है कि तू आशा की सायकल का पंक्चर नहीं जोड़ेगा।" उसकी शर्त सुनकर मुझे सांप सूंघ गया। कुछ कहते नहीं बना। मेरी चुप्पी पर इशाक ठहाका मारकर हंसा- "बेटा राजकुमार तुम स्कूल जाते हो, छठवीं में पढ़ रहे हो। हर साल क्लास में अव्वल आते हो। मैं पहली पक्की फेल हूँ तो तुम समझते हो कि मैं गंवार, जाहिल हूँ। सारी अक्ल का ठेका तुमने ले रखा है। मैं खूब समझता हूँ बेटा। तुम पंक्चर सुधारना सीखकर पहला पंक्चर आशा का ही जोड़ोगे। मैं कोई इतना मूरख नहीं हूँ कि अपना हुनर, अपनी आशा तुम्हें मुफ्त में सौंप दूं।" इशाक द्वारा "अपनी आशा" कहा जाना मुझे बेहद अखर गया। इशाक, आशा को इस हद तक चाहता है। क्या आशा भी इशाक को चाहती है? यह प्रश्न मेरे जेहन में था। एक दिन आशा और मैं स्कूल से आ रहे थे। आज स्कूल के चपरासी रामसेवक का देहावसान हो गया था इसलिए हैड मास्टर जी ने शोक सभा के बाद छुट्‌टी कर दी थी। मैंने आशा से कहा- "आज जल्दी छुट्टी हो गई है चलो अमराई चलते हैं। देवन चाचा के बाग में खूब आम आए हैं। चाचा कई बार आम खाने का न्यौता दे आए लेकिन पिताजी को फुरसत ही नहीं जो हमें लेकर वहाँ जाएं। चलो आज अच्छा मौका है।" आशा ने भी अपनी सहमति प्रकट की। हम देवन चाचा के बाग पहुँच गए। हमें देखकर देवन चाचा बहुत प्रसन्न हुए- "जे का नरस की मौड़ी है?" चाचा ने आशा को देखकर कहा। हाँ! चाचा यह माला मौसी की लड़की है। इसका नाम आशा है। मेरे साथ मेरी क्लास में पढ़ती है।"

"अच्छा-अच्छा बहुत प्यारी बिटिया है। नाक नकशा पूरा नरस पे ही गयो है। गुड़िया सी लगे है।" चाचा ने आशा का पूरा स्केच खींचते हुए कहा। फिर बीड़ी सुलगा कर बोले- 'राजू तू अच्छो आ गयो। आज तेरी चाची अभी तक रोटी लेके नहीं आई, पतो नहीं का बात हो गई ससुरी ने आज तो भूखो मार डालो। पेट में चूहे उठा पटक कर रहे हैं। तू बाग को देखियों मैं जो गयो और जो आयो। अमानपुर के कसाई घुस जाए हैं बाग में और जरा देर में सब कैरी ले जाए हैं बस नजर चूकने भरे की देर है। तू देखियों, जे आम धरे हैं डलपक है, खूब खाइयों और जा मोड़ी को भी खबाइयो।" इतना कहकर देवन चाचा अपना साफा ठीक करते हुए गाँव की तरफ चल पड़े। अब आशा और मैं अकेले रह गए। हमने खूब आम चूसे। रस भरे मीठे आम चूस चूस कर हमारे हलक और गाल दुखने लगे। आम की ठंडी छांह में अधलेटे होकर मैंने आशा से पूछा- "इशाक कैसा लगता है?" "अच्छा लड़का है फिर पंक्चर के पैसे भी नहीं लेता।" "तुझे पता है, वह कौन है?

"मुसल्ला है।" मैंने कुछ नफरत से कहा।

"मुसल्ला मतलब?" आशा ने प्रश्न किया।

"तुम इतना नहीं जानती। ये लोग मुसलमान हैं। अपनी हनुमान गड़िया और अपने रामद्वारे नहीं जाते। गुरवास में इनकी मस्जिद है, हर जुम्मे छः कोस दूर पैदल चलकर जाते हैं। शर्मा मास्साब बता रहे थे कि मुसल्लों से दूर रहा करो। ये जानवर काट कर खाते हैं। अपने चाचा, ताऊ, मौसा, फूफा की लड़कियों से शादी कर लेते हैं, इनका कोई ईमान नहीं है।"

"अपन को इससे क्या? अपन कौन इनके घर में जाते हैं सिर्फ पंक्चर ही जुड़वाते है और तुम्हारे घर तो सुना है इशाक खाना खाने भी कभी-कभी आता है?"

"हाँ! जब उसके घर में मटन, मुर्गा बनता है तो वह मुझसे कहता है कि राजू अपने घर ले चल। मुझसे मटन-मुर्गा नहीं खाया जाता। इशाक मटन-मुर्गा से नफरत करता है इसलिए कभी-कभी हमारे घर खाना खाने आता है उसे माँ के बनाए मूली के कोफते खूब पसंद हैं।"

"जब इशाक मटन-मुर्गा नहीं खाता तो मुसल्ला कैसे हुआ?"

"वह नमाज तो पढ़ता है। ईद तो मनाता है।"

"तो इससे हमें क्या?"

"बड़ी महाराजन इमरतिया से कह रही थीं कि मुसल्ले हिन्दू लड़कियों को फंसाकर उनसे शादी करके अपनी संख्या बढ़ाते हैं।"

"तुम मुझसे कहना क्या चाहते हो?" "यही कि इशाक से बचकर रहना। अब आइंदा से कभी मुफ्त में पंक्चर नहीं जुड़वाना। पैसे न हों तो मुझसे ले लेना।" "अच्छा तो यह बात थी। तुम्हें इशाक की यह बात बुरी लगी कि वह तुमसे तो पैसे लेता है और मुझसे नहीं। क्यों बच्चू?" "हाँ यही मान लो। इस मुसल्ले से दूर ही रहो। देखा नहीं, वह पंक्चर कम जोड़ता है और टुकर-टुकर तुम्हें ज्यादा देखता है।"

"और तुम देखते रहते हो तब?" "मेरी बात दूसरी है। मैं हिन्दू हूँ वह मुसल्ला है।"

"इशाक की अम्मी तुम्हारे पिताजी को राखी बांधती है, उसे क्या कहोगे?" "सब मतलब के रिश्ते हैं। केशर सिंह ने रमजानम् की दो एकड़ जमीन हड़प ली थी। पिताजी ने उसे मुकदमेबाजी से वापस दिलवाई उस दिन से हर रक्षाबंधन पर राखी बांधती है।" जो भी हो राजू। हमारी माँ से तो इशाक के घर का कोई संबंध नहीं है। वह हमारे यहाँ आता भी नहीं है। बस बात पंक्चर की है अगर तुम जोड़ना सीख जाओ तो मैं पंक्चर भी जुड़वाने वहाँ नहीं जाऊंगी

हाँ यह पहले बता दो कि तुम मुझसे पैसे लोगे या नहीं यदि पैसे लोगे तो फिर तुमसे तो इशाक ही भला।" कहकर आशा खिलखिलाने लगी।

हम और आशा उस दिन चार घंटे अमराई में रहे। देवन चाचा ठीक चार बजे लौटे। चाचा ने आते ही सफाई दी "का करें बचवा आज पेट भर खा लियो। कड़ी बनाई थी तेरी चाची ने भर पेट भसक लियो फिर लग गई जा मरी आंख। अबही खुली तो होस आयो कि बाग में दोऊ मोड़ा-मोड़ी राह देख रहे होंगे सो सरपट चलो आयो। आम-बाम खाए या यों ही पोथी-पत्तरा पढ़त रहे?" "हमने खूब आम चूसे। ये देखो छिलके और गुठलियों का ढेर।"

"अच्छी भली करी। अच्छा ये आम अपने घरों को भी ले जइयो।" कहकर चाचा ने हमारे बस्तों में आम ठूंस दिए। हम दोनों घर की तरफ चल पड़े। आशा से उस दिन के बाद रोज स्कूल में बातें होती थीं लेकिन आज मैं उसके घर में बीमार बनकर पड़ा हूँ तो आशा खामोश है। मैं सोचने लगा कि आशा मेरी बीमारी की वजह से उदास है या माला मौसी ने पढ़ाई को लेकर उसे डांटा तो नहीं? आशा कुर्सी पर बैठी थी और उसकी हथेली पर मेरी उंगलियां बड़ी बेचैनी से घूम रही थीं। उसने मेरे हाथ की गरमी को देखा तो उसने अपनी माँ को आवाज दे- "माँ राजू का हाथ बहुत गर्म है, जरा देखना इसे बुखार तो नहीं है?" माला मौसी किचन से भागी-भागी आईं। थर्मामीटर मेरे मुंह में डाला फिर थोड़ी देर तक अपनी कलाई घड़ी देखती रहीं फिर मेरे मुंह से थर्मामीटर निकालकर बोली 'ओह गाड?' "अरी। आशा अलमारी से पट्टियां और घड़े से पानी लेकर आ। पट्टी गीली कर-करके राजकुमार के सिर पर रख तभी उतरेगा बुखार।" माला मौसी ने मुझे एक गोली पानी के साथ दी। मैं धम्म से लेट गया। तब तक आशा आ गई उसने गीली पट्टी मेरे सिर पर रख दी। पहली शीतल पट्टी से मुझे राहत मिली। आशा एक के बाद एक पट्टी रख रही थी और मैं आशा की आंखों के आकाश में अपना प्रतिबिंब तलाशने की कोशिश कर रहा था।

दोपहर तक बुखार कम हो चुका था लेकिन आशा अभी तक पट्टियां बदल रही थी। माला मौसी ने आशा से कहा- "अब तुम नहा-धोकर खाना खा लो तब तक मैं पट्टियां बदलती हूँ।" आशा उठी और बाथरूम की ओर चली गई। कुछ समय हुआ होगा माँ आ गईं थीं। वे मेर सिरहाने बैठ गईं। माला मौसी का काम उन्होंने अपने हाथ ले लिया। माँ के हाथों का स्नेहिल स्पर्श पाकर मेरा बुखार छू मंतर हो गया। माँ के प्रेम में कितनी शक्ति होती है, इसे मैंने उन क्षणों में महसूस किया। शाम को पिताजी भी आ गये थे। उन्होंने व्यंग्य से कहा- "आज ही सैरखेड़ा से पांच किलो की कुप्पी भरकर घी लाया हूँ। ठीक हो जाओ तो फिर शुरू हो जाना।" पिताजी के व्यंग्य पर माँ, मौसी और आशा एक साथ

हंस पड़े। मैं भी मुस्कराए बिना न रह सका।पूरे दो दिन मैं माला मौसी के घर रहा इस दौरान आशा स्कूल भी नहीं गई। माला मौसी जब अस्पताल गईं तो वह मेरे सिरहाने बैठी हुई मेरे घुंघराले बालों में अपनी कोमल उंगलियां उलझाती रही।

"राजू तुम्हारे बाल खूब घुंघराले हैं तुम पूरे पिताजी पर गए हो?"

"बाल बहुत घने हैं आशा, इनमें माँग भी नहीं निकलती। विमल की माँग देखकर मुझे लगता है कि पता नहीं इस जन्म में तो माँग निकालना बहुत मुश्किल है।"

"तुम्हें पता है?"

"क्या?"

"माँ कह रही थीं कि जिनके बाल घुंघराले होते हैं, वे लोग अपनी पत्नी को खूब प्रेम करते हैं।"

"इसका प्रमाण क्या है? मेरी तो अभी शादी नहीं हुई?"

"इसका प्रमाण तुम्हारे पिताजी हैं" तुम्हारी माँ को कितना प्रेम करते हैं। उनके बाल भी तो खूब घुंघरवाले हैं" "हाँ आशा, पिताजी सचमुच माँ को बहुत चाहते हैं। माँ भी उन्हें खूब चाहती हैं। जब तक पिताजी खाना नहीं खा लेते तब तक माँ भी नहीं खाती कई बार तो वे रात-रात भर भूखी रही हैं।" "यही तो सच्चा प्रेम कहलाता है। अच्छा राजकुमार तुम शादी करोगे?"

"अभी से इस बारे में क्या सोचना?"

"अभी क्या? पूरे 14 साल के हो गए हो 7-8 साल बाद शादी तो करनी होगी?"

"जब करनी होगी तब की तब देखी जाएगी।"

"फिर भी कैसी लड़की से शादी करोगे?"

"माँ जिस लड़की को पसंद करेंगी।"

"तुम्हारी कोई पसंद नहीं है क्या?"

"नहीं, मुझे माँ जैसी ही पत्नी चाहिए मुझे भरोसा है कि माँ मुझे अपनी जैसी ही पत्नी दिलाएंगी।"

"अच्छा बताओ! मैं कैसी हू?"

"माँ जैसी एकदम माँ की फोटो कॉपी?"

"क्या मुझसे शादी करोगे?"

"माँ से पूछकर बताऊंगा।"

"अरे! बुद्धू माँ से अभी कुछ मत कह देना।"

"हमारी हंसी होगी। खासकर मेरी।"

"तुम्हारी भला क्यों?"

"यही कि लड़की होकर ऐसी बेहूदी बातें करती है बेशर्म कहीं की?"

"अच्छा यह बात है।"

"अच्छा नहीं कहूँगा लेकिन आशा आज की बात याद रखना। बड़ा होकर तुम्हें ही दुल्हन बनाकर ले जाऊंगा आशा खिलखिलाकर हंसने लगी।

दो दिन बात मैं पूर्ण स्वस्थ होकर अपने घर आ गया लेकिन आशा की याद आती रही। एक पूरा और सुनसान दिन निकल गया लेकिन आशा नहीं आई। मैं माला मौसी से पूछने की हिम्मत नहीं कर सका कि- आप आशा को लेकर क्यों नहीं आईं? दूसरा दिन भी गुजर गया। पलंग पर पड़ा-पड़ा मैं आशा को देखता। सामने दीवार पर राधा-कृष्ण का चित्र टंगा था। कन्हैया के होंठों पर बाँसुरी उनका एक हाथ राधा के कंधे पर झूल रहा था। मैंने तत्क्षण कल्पना की यह सांवला, सलौना मोहन मैं हूँ और गोरी-गोरी राधा आशा है। आशा जब दो दिन भी नहीं आई तब मैं बेचैन हो गया। बुखार जो पूरी तरह से उतर गया था, वह दोबारा आ गया। माँ घबरा गईं। सब काम छोड़कर मेरे सिरहाने बैठी बैठी मेरे सिर पर गीली पट्टिया बदलती रहीं। संकोच के मारे माँ से चाहकर भी नहीं पूछ सका कि आशा कहाँ है? आशा भी उम्र की 14 देहरियां पार कर चुकी थी। वक्ष स्थल में उभार आ गया था। कुरते के ऊपर झीना दुपट्टा उसके यौवन के महा आगमन का स्पष्ट संकेत दे रहा था। उसके कपोलों में भराव आ गया था। आंखों में शोख मस्ती छलकती थी। उसकी चाल में भी बदलाव आ गया था। आशा में पल-पल बदलाव आ रहा था और मेरा जुड़ाव दिन-ब-दिन उससे पक्का होता जा रहा था। आशा एक हफ्तें नहीं आई। माँ दाल-दलिया और रोटी की ऊपर सतह को पतली दाल में मीड़कर खिलाती रहीं। मैं अब शरीर से पूर्ण स्वस्थ हो गया था लेकिन कमजोरी नहीं गई। जैसे-तैसे उठकर अपने कमरे में चक्कर लगा लेता था। मानसिक रूप से उलझनों में था। एक ही उलझन थी कि आशा कहाँ है? इशाक, आत्माराम, विमल रोज मुझे देखने आते मैं उनसे भी नहीं पूछ सकता कि आशा कहाँ है? विमल और इशाक तो आशा को चाहते थे, इस मामले में वे मेरे प्रतिद्वंदी थे और आत्माराम को इन सब लफड़ों से कोई मतलब नहीं था। उसका पूरा ध्यान हलुआ, पूड़ी, खीर खींचने में था। आत्माराम शर्मा खुद को एआरएस कहता था। अंग्रेजी के प्रति उसका खास रूझान था और मुझे आरकेएम कहकर पुकारता था। पिताजी ने 52 साल पहले मेरा नाम संवेद उस वक्त रखा था जब जमाना रतनलाल, बटनलाल, रामदीन और दीनदयाल का था। संवेद कहकर केवल पिताजी ही पुकारते थे लेकिन जब शर्मा मास्साब ने मेरा नाम राजकुमार रखा तो सभी लोग मुझे राजू, राजा और राजकुमार कहकर ही बुलाते। एक दिन मैंने माँ से पूछा- शर्मा मामा ने मेरा नाम राजकुमार क्यों रखा? माँ ने बड़े दुलार से कहा- "बेटा तू सचमुच

का राजकुमार है। ये तेरे घुंघराले बाल, गोल-मटोल चेहरा, सुंदर आंखे ये सब खासियतें तुझे राजकुमार बना देते है। फिर तेरा जन्म भी तो राजा के घर हुआ। तेरे पिता किसी राजा महाराजा से कम थोड़े ही है।''

मैंने अपने चेहरे को आईने में गौर से देखना शुरू किया तो मुझ लगा कि सिर पर पगड़ी, कानों में कुंडल और गले में ढेर सारी मालाएं पहन लूं तो मैं जीता जागता राजकुमार लगूं। मुझे उन्हीं क्षणों यह तीव्र एहसास हुआ कि भविष्य में मैं भीड़ से अलग हटकर कुछ बनूंगा। यह राजकुमार अपनी राजकुमारी के बिना आज अधूरा है, निष्प्राण है, लाचार है। किससे पूछूं? माला मौसी भी छः दिनों से नहीं आईं। एक दिन हिम्मत जुटाकर माँ से पूछ ही लिया- ''माँ, माला मौसी अब मुझे देखने भी नहीं आती- क्या बात हो गई?'' माँ ने कुछ अपराध बोध से पीड़ित होकर कहा- ''बेटा मैं तुझे बताना भूल गई। माला दीदी अपने छोटे भाई की शादी में इंदौर चली गई हैं। आशा को तो उसके बड़े मामा एक हफ्ते पहले लेकर चले गए। कल या परसों में लौट आएंगे। ऐसा भला कैसे होता कि माला दीदी यहाँ होते हुए तुझे देखने न आतीं। वे तो तुझे दूसरा बेटा समझती हैं। हर दम तेरी तारीफ करती रहती हैं।'' माँ का उत्तर सुनकर मेरे शरीर में स्फूर्ति आ गई। सारी शंकाएं-कुशंकाएं लुप्त हो गईं। बस एक-दो दिन और फिर आशा मेरी आंखों के सामने आ जाएगी। दो दिन बेचैनी और उदासी लेकिन इस सुखद प्रतीक्षा में कटे कि आशा अपने पूरी अस्तित्व के साथ मेरे सामने होगी। और वह दिन भी आ गया जब अपने हाथ में एक ताजा लाल गुलाब की डंडी थामे आशा घर आई। माँ घर में उस वक्त नहीं होती तो मैं आशा से लता की तरह लिपटकर खूब रोता। मर्यादाएं हमारी भावनाओं पर अंकुश लगाती है। हमारे सामाजिक आचरण को दायरे से बाहर नहीं जाने देतीं। माँ ने आशा से उसके मामाजी की शादी की कुछ बातें कीं। आशा मेरे पलंग के पास रखे स्टूल पर बैठ गई। माँ जब किचन में गई तब उसने मुझे लाल गुलाब दिया और साथ ही गुलाबी रंग का एक लिफाफा। लिफाफा देने के बाद उसने मेरे कान पर अपने होंठ चिपकाते हुए कहा- ''मेरे मोहन इस लिफाफे को अकेले में पढ़ना। इसमें मेरे एक हफ्ते का प्रेम भरा पड़ा है।''

बैठी-बैठी आशा बालों में उंगलियां फिराती रही। उसकी उंगलियों के स्पर्श में एक ऐसा कंपन था जो एक हफ्ते के अलगाव की विरह गाथा चुपचाप बयान कर रहा था। आशा ने अपना सिर घुमाकर एक नजर पूरे कमरे को देखा और मेरे कपोल पर एक शीतल चुंबन रख दिया उसके खुले बाल मेरे चेहरे पर झूल आए। एक क्षण पश्चात उसने स्वयं को समेटा। स्टूल को थोड़ा पलंग से दूर किया और चुपचाप मुझे देखती रही।

माँ एक तश्तरी में चार बूंदी के लड्डू और एक तश्तरी में सेव ले आई थीं। आशा की तरफ टेबिल खिसकाते हुए वे बोली- "ले बेटी खा ले।" आशा एक लड्डू कुतर-कुतर मुझे दिखाते हुए खाने लगी। माँ से हंसकर बोली- "मौसी राजू का तो परहेज चल रहा होगा इसलिए उसके हिस्से का एक लड्डू और भी खाकर जाऊंगी" माँ मुस्कुराकर बोली- "बेटी इसे तो अभी 15 दिन परहेजी खाना ही देना है। डॉक्टर साहब जब कहेंगे तब इसको सामान्य खाना देना शुरू करूंगी।"

लड्डू आशा खा रही थी और स्वाद मेरी जीभ ले रही थीं। क्या यही एक मन-प्राण की परिभाषा और प्रतीति है? आशा थोड़ी देर बैठकर चली गई। उसके जाते ही मैंने माँ से बाथरूम तक जाने को कहा। माँ मुझे सहारा देकर बाथरूम तक छोड़ आई। मैंने किवाड़ बदं करके आशा का गुलाबी लिफाफा खोला। भीतर एक नीले रंग का कागज था जिसमें सुंदर हस्तलिपि से लिखा हुआ पहला संबोधन था-

मेरी आंखों के तारे मोहन।

तुम्हें शायद पता नहीं कि अचानक उस दिन बड़े मामा आए और मुझे और श्याम को इंदौर ले आए। मामाजी ने इतना समय भी नहीं दिया कि मैं अपने मोहन को बता पाती कि उसकी राधा अब एक हफ्ते तक उससे नहीं मिल सकेगी। क्या कहूँ मोहन ईश्वर साक्षी है हर पल तुम मेरी आंखों के सामने आते रहे। मामा को जब हल्दी लगाई तो मुझे लगा यह हल्दी तुम्हें लगाई जा रही है। मामा की बारात उज्जैन गई। मैं भी बारात में थी रास्ते भर मामा में तुम्हें खोजती रही। जब मामा घोड़ी चढ़े तो मुझे लगा मेरी बारात लेकर तुम मुझे लेने आ रहे हो। मामी भी इतनी सुंदर मुझसे भी ज्यादा। मैं मामी में स्वयं को तलाश रही थी। हर पल मुझे लग रहा था तुम वहाँ बुखार में पड़े हुए हो और मैं यहाँ शहनाइयों के बीच खुलकर रो भी नहीं सकती। मेरे मोहन मैं तुम्हारे बिना अधूरी हूँ। उज्जैन में कुछ लोगों ने माँ से बात की वे शायद मुझे अपने बेटे के लिए माँग रहे थे। बड़ी मामी ने बताया कि दौलतपुर के सरपंच हैं। हजारों एकड़ जमीन है। इकलौता लड़का है। इंदौर में दसवीं में पढ़ रहा है। माँ को भी यह प्रस्ताव मंजूर है। एक बार मामी ने मुझसे पूछा तो मैंने कहा- अभी तो मैं 14 की हूँ। मैं पढूंगी डॉक्टर बनूंगी, तब शादी करूंगी" तब मामी ने कहा- क्या उलटी सीधी बातें करती है। शरीर पर जवानी की बाढ़ आई हुई है सीने का दुपट्टा संभाले नहीं संभलता इस उम्र में शादी नहीं करेगी तो बुढ़ापे में करेगी। हमारी शादी तो 12 साल में हो गई थी और तू 14 की होकर भी खुद को दूध पीती बच्ची समझ रही है।" माँ ने भी मामी के स्वर में स्वर मिलाकर कहा- "इस साल सातवी में आ जाएगी। अगले साल मिडिल पास करके इसकी शादी कर देंगे। हरभजनलाल जी

से कह देना सगाई इस साल कर लें शादी दो साल बाद करेंगे।'' मोहन मेरे पास सिर्फ दो साल हैं, इसके बाद जीवन किस दिशा और दशा को प्राप्त होता है, यह मुझे पता नहीं लेकिन मेरे लिए ये दो साल दो जन्मों के बराबर होंगे क्योंकि मैं तुम्हें रोज देख सकूंगी। इसके बाद तो मेरे जीवन का अंत होना तय ही समझो। तुम जल्दी ठीक हो जाओ। कल फिर तुम्हें देखने आऊंगी।

सदा से तुम्हारी राधा।

मैंने आशा के पत्र को कई-कई बार पढ़ा।

आशा की शादी की बात इतने जल्दी चल निकलेगी इसका मुझे तनिक भी आभास नहीं था। जबकि गाँव में हम रहते थे उसमें आए दिन ढेरों 12-13 साल की लड़कियों की शादियां होती थीं। 14-15 साल के दूल्हे सजकर आते और दुल्हनियां की डोली ले जाते। हम कायस्थ कुल वालों के यहाँ तब तक शादी नहीं होती जब तक कि लड़का पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी में न लग जाए तब तक शादी की बात ही बेमानी है। मैं तो अभी सातवीं में आया हूँ अभी तो कई साल लगेंगे पढ़ाई में बी.ए., एम.ए. करने में वक्त लगेगा। पिताजी की शादी भी तो तब ही हुई थी जब वे वकील बन गए थे। मुझे एहसास हुआ कि काश। आशा! आज 14 की न होकर 4 साल की होती तब मैं जरूर उससे शादी कर सकता था। पता नहीं कब मेरी आंखों का आकाश छिन जाए पता नहीं। मिडिल के बाद तो मुझे भी गाँव से बाहर बड़े भैया की तरह पढ़ने जाना है। हे भगवान! क्या करूं कोई काला जादू टोना भी तो नहीं आता अगले ही साल बी.ए. एल.एल.बी. करके एडवोकेट बन जाऊं और आशा को हमेशा के लिए अपना हमसफर बना लूं।

आज से 37 साल पहले गाँवों में लोग लड़कियों को पढ़ाते ही नहीं थे। आशा की माँ चूंकि नर्स थी और वह पढ़ाई का महत्व समझती थी इसलिए वह मिडिल तक आशा को पढ़ाने का साहस कर सकी जबकि रिश्तेदार कब से पीछे पड़े होंगे कि हाथ पीले कर दो। आज का युग होता तो आशा अपने माता-पिता से बगावत कर देती। डॉक्टरी पढ़ती फिर शादी करती लेकिन 37 साल पहले इस तरह की बात सोचना भी बहुत बड़े साहस की दरकार रखती थी क्योंकि उस जमाने में लड़कियां अपना मुंह कहाँ खोलती थीं।

खट-खट जब बाथरूम की सांकल दो बार खड़की तो मुझे होश आया कि दो घंटे से मैं बाथरूम में चिंतन कर रहा था। माँ कह रही थीं- ''राजू क्या वहीं पर सो गया?'' मैंने हिम्मत जुटाकर कहा- ''माँ अभी आता हूँ।'' बाथरूम से निकलने से पहले आशा का खत अपने पायजामे की जेब में सहेजकर रखा और बाहर आ गया। माँ ने साबुन पकड़ाया। हाथ पैर धोए और फिर अपने पलंग पर निढाल होकर लेट गया। आंखों में आशा की शादी के सपने तैरने लगे। अब

आशा हम रोज एक साथ उसके घरपर पढ़ने लगे। कभी-कभार आशा की सहेली माया भी हमारे साथ होती। माया धोबिन थी उसके पिता हमारे और शासकीय कर्मचारियों, सेठ जी के घरों के कपड़े धोकर प्रेस करके अपनी आजीविका चलाते थे। माया के घर एक भैंस भी थी। खूब दूध देती थी। कभी-कभी दो-चार लीटर दूध मैं भी ले आता था। माँ खीर बनातीं। खूब मेवा डालतीं और आस-पड़ोस में बांटती। माया हद से ज्यादा सुंदर थी। मैं उसकी तुलना फिल्म अभिनेत्री राजश्री से करता था। इतनी रूपमति युवती फिर मैंने अन्यत्र नहीं देखी।

माया की शादी 12 साल की उम्र में बरखेड़ा के एक युवक से हो गई थी लेकिन गौना दो साल बाद का तय हुआ था। माया पढ़ी-लिखी ज्यादा थी नहीं बस अपना नाम सौ. माया देवी रजक भर लिख लेती थी। आशा उसे खूब पढ़ाती उसकी दिलचस्पी भी पढ़ने में थी। चार-पांच महीनों में ही वह रामायण पढ़ने लगी तो रामलाल धोबी की छाती चौड़ी हो गई। वह अपने भाग्य को सराहने लगा। उसने आशा के घर के कपड़े मुफ्त धोना शुरू करा तो माला मौसी के तबादले होने के बाद ही बंद किया। रामलाल जहाँ और जिस घर में भी कपड़े लेने जाता वहाँ आशा की तारीफों के पुल बांध देता। ढेरों आशीषें देता और रोने लगता। दो साल गुजर गए। कैसे गुजर गए? पता नहीं चला। आशा अब पराए घर जाने के लिए मजबूर थी। कई बार उसकी बड़ी-बड़ी आंखों के कटोरे आंसुओं से भर जाते। "मोहन। मुझे जहर लाकर दे दो। मैं किसी की होने से पहले ही मर जाना चाहती हूँ।" मैं उसे क्या समझाता? कभी-कभी ख्याल आता कि फिल्मों में जिस तरह से नायक-नायिका को भगाकर ले जाता है, ठीक मैं भी उसी तरह आशा को भगा ले जाऊँ। लेकिन भागकर जाएंगे कहाँ? फिल्म और हकीकत में शायद यही ठोस अंतर है। फिल्म हमारी वंचित आकांक्षाओं को दमित इच्छाओं को परदे पर साकार करके हमें सुकून देती हैं कि ऐसा भी किया जा सकता है लेकिन हकीकत में वैसा हो नहीं पाता है। उन दिनों 'मुगल-ए-आजम' फिल्म अमरही में लगी थी। माला मौसी हमारा परिवार बैल गाड़ियों पर बैठकर अमरही के टाट पट्टी बैंचों वाले ऊबड़-खाबड़ टाकीज में 6 से 9 का फर्स्ट शो देखने गए थे। माला, आशा और माँ लेडीज केबिन में बैठे थे मैं पिताजी और माला मौसी के पति हम पुरुष केबिन में बैठे थे। अकबर की भूमिका में पृथ्वीराज कपूर और सलीम की भूमिका में दिलीपकुमार तथा अनारकली की भूमिका उस वक्त की सबसे खूबसूरत अभिनेत्री मधुबाला थी। परदे पर जब "जब प्यार किया तो डरना क्या? परदा नहीं जब कोई खुदा से फिर बंदो से परदा करना क्या? जब प्यार किया तो डरना क्या? पूरा का पूरा गीत मेरी शिराओं में प्रवाहित होने लगा। मुझे लगा कि इसी वक्त टाकीज से बाहर निकल जाऊं आशा को यहीं से अगवा करके ले जाऊं। शकील ने सही तो कहा है- जब प्यार किया तो डरना क्या प्यार

किया कोई चोरी नहीं की? फिर छुप-छुप आहें भरना क्या? प्रेम पर पहरा मुगलकाल क्या आदिकाल से लगता आया है। फिर हम जिस समाज में आज सांस ले रहे हैं वह भी तो परंपराओं का अंधभक्त है। प्रेम के लिए यहाँ कोई रत्तीभर जगह खाली नहीं है।

फिल्म देखकर बाहर आए। आशा मिली तो उसकी आंखे सूजी हुई थीं। कितनी बार उसके आंसू बहे हुए होंगे। चूंकि माँ-पिताजी अभी तक हम दोनों को बच्चे ही समझते थे इसलिए उन्होंने कभी सोचा ही नहीं ये बच्चे अब उम्र की उस दहलीज पर आ गए हैं जहाँ हृदय तीव्रतम संवेदनाओं से सीधे-सीधे साक्षात्कार करते हैं। उस दिन मामाजी के घर अमरही में ही रूके। अजय कुमार मेरा हमउम्र था। मामाजी का लड़का। वह हर गर्मियों की छुट्टियों में गुरारिया आता था और हम दोनों मिलकर खूब धमा चौकड़ी मचाते थे। इस बार अजय कुमार ने मेरी सूरत पर गौर किया और चोरी पकड़ सी ली- "क्यों राजू क्या बात है? बहुत उदास दिख रहे हो?"

"कुछ तो नहीं यूं ही। बैल गाड़ियों के सफर में खूब शरीर की कसरत हो गई? इसलिए थकान आ गई।"

"ऐसा नहीं है राजू। हर बार तो तू बैलगाड़ी से ही आता था लेकिन तेरे चेहरे पर मैंने ऐसी स्याह परत कभी नहीं देखी, चल बड़े बाजार चलते हैं। काशीराम की कचौड़िया तुझे बहुत पंसद हैं, चल गरमागरम कचौड़ियां खाएंगे। और कुछ गपशप भी करेंगे।" अजय कुमार हाथ पकड़कर मुझे लगभग घसीटते हुए बाजार ले गया। रास्ते में मैंने आशा वाली बात बता दी। वह हंसा। मैं हैरत में कि अजयकुमार हंसा क्यों? "अज्जू तू हंसा क्यों? वह लापरवाह होते हुए बोला- "इसमें नई बात क्या है? देवदास-पारो, लैला-मजनू, शीरी-फरहाद सबकी सब कथाएं बकवास है। प्रेम होता क्या है? एक पागलपन के अलावा कुछ नहीं। तू नंदी सेन की लड़की मीना को जानता है? अज्जू ने प्रश्न वाचक निगाह मेरे चेहरे पर फेंकी- "हां। बहुत अच्दी तरह से तुम्हारे पड़ोस में ही रहती है।" "रहती थी, अब भानपुरा ब्याकर चली गई। चार साल पहले से मेरा लफड़ा चल रहा है। शादी हुए दो साल हो गए। साली अभी भी साथ निभा रही है। उसका मरद ढीला है और औरत को चाहिए नाल फोड़ू जाबाज़ मरद। तेरा अज्जू कम है क्या दो सौ दंड और चार सौ बैठकें रोज श्रीराम व्यायाम शाला में पेलता है। आधा पाव बादाम और डेढ़ सेर दूध गटक जाता है। यह कसरती बदन मीना के बहुत काम आ रहा है। तू बेकार टसुए बहा रहा है। आशा का भीतरी भूगोल भोगा कि नहीं? या यूंही पवित्र प्रेम का बेहूदा राग अलाप रहा है? मैंने भी मीना को भोग नहीं था तब तक वह पारो लगती थी। जब मीना से दो-चार हुए तो प्रेम

का असली रूप सामने आ गया। जब मीना की शादी हो रही थी तो रोज त्रिया चरित्र बताती थी। रो-रोकर कहती थी- "अज्जू तुम्हारे बिना मैं एक पल भर नहीं रह सकती। तुम मुझे भगाकर ले जाओ। मैं शादी के सारे गहने-कपड़े लेकर तुम्हारे साथ भागने को तैयार हूँ।"

मैंने सिरफिरी पगली को शुद्ध हिन्दी में समझा दिया कि तू भानपुर की रानी बन जा। मैं तो अमरही का राजा ही रहूँगा तू चली जाएगी तो क्या लोंडियों का अकाल पड़ जाएगा। तेरी बहन लीला अभी से मुझे आंख मारने लगी है और भी मुहल्ले की कई लौंडियां जवान होने जा रही हैं। उनकी देखभाल कौन करेगा? अब गुरारिया लौटकर पहला काम यह कर कि आशा से जी भरकर प्यार कर ले। बाद में पछताने से कुछ नहीं होगा। जिस पेड़ को तूने सींचा उसके मीठे फल भी चख वैसे आशा है जोरदार। नदी उफान पर है बेटा नाक बंद करके कूद जा। बाद में कुछ मत कहना जब चिड़िया चुग गई खेत। आज मीना साल में छः बार मायके आती है। अपने माँ-बाप से मिलने नहीं अपनी जरूरत पूरी करने। हर बार दो सेर बादाम दे जाती है। भानपुरा में उसके चुगद पति की लंबी खेती-बाड़ी है। खूब पैसा आता है। मीना बटोर कर मेरी जेब भारी करती रहती है। हर बार कहती है "डेढ़ सेर की जगह दो सेर दूध पी मेरे पहलवान। पैसे की फिक्र मत कर।"

अज्जू की कथा सुनकर मेरे मन में प्रेम और घृणा के भाव एक साथ आते-जाते रहे। क्या यही प्रेम है? जो देह को जानता है? देह से परे अज्जू सोच भी कैसे सकता है कहावत है न कि हर पहलवान की अक्ल घुटनों में होती है।

हर व्यक्ति के अपने-अपने सच और भ्रम होते हैं। यह जरूरी भी नहीं कि अज्जू का सच मेरा भी सच हो। कितनी बार घोर एकांत में आशा और मैं एक ही पलंग पर पड़े-पड़े बतियाते रहे लेकिन कभी हमारे ऊपर शैतान सवार नहीं हुआ। काशी की दुकान तक जरूर गए लकिन कचौड़ी खाने का मन ही नहीं हुआ। एक दर्जन कचौड़ियां सबके लिये बंधवा लाए। यह पहला मौका था कि मैंने अमरही पहुँचकर काशी की कचौड़ियों से मुंह मोड़ा था। बाजार से लौटे तो मामी जी ने खाना परोसकर सामने रख दिया। अज्जू ने जमकर सुताई की पट्ठा पूरी 32 रोटियां खा गया। खाना खाकर हम अज्जू के कमरे में गए वह लेटते ही खर्राटे भरने लगा। नींद मेरी आंखों से कोसों दूर थी।

क्या प्रेम वासना विहीन हो सकता है? क्यों नहीं? यह उत्तर मेरे भीतर से आया। पिछले बार माँ और मैं अमरही आए थे तब रात को हम छत पर सोने गए। काफी रात बीतने पर भी जब मुझे नींद नहीं आई तो मैं आसमान के तारे गिनने लगा था। हर बार गिनती गड़बड़ा जाती मैंने सुना- "मामीजी, माँ से पूछ रही थी- "उस वसुंधरा का क्या हाल है?" "अरे भाभी! कुछ पूछो मत दो साल

पहले पति अचानक चल बसा एक लड़का गोद में है। जवानी अभी पूरी तरह आई भी नहीं थी कि विधवा हो गई। पता नहीं कबसे वसुंधरा तुम्हारे ननदोई जी पर नजरें जमाए हुई थी और ये ठहरे भोले भंडारी। पराई औरत की तरफ सीधी आंख से नहीं देखा। वसुंधरा जब तंग आ गई तो मुझसे बोली- "अपने इनसे कह कि मुझे भी तेरे साथ रख लें। मैं जिंदगी भर इनके पैर धोकर रहूँगी। तू मेरी सहेली है क्या मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकती? मामीजी उक्त बात सुनकर उठ कर बैठ गईं फिर उत्सुकता से बोली फिर क्या हुआ बीबी जी?" माँ ने कहा "मैंने वसुंधरा की इच्छा राजू के पिताजी के समक्ष प्रकट कर दी साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे चाहें तो वसुंधरा को अपनी दूसरी पत्नी का दर्जा देकर एक ही घर में रख सकते हैं। हम बहनों की तरह साथ-साथ जीवन भर रह लेंगे।" "फिर ननदोई जी ने क्या कहा?" "भाभी तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा। उन्होंने कहा- "प्रेम का एक ही रूप होता है। यह वसुंधरा नहीं उसकी जवानी बोल रही है। वसुंधरा मुझसे प्रेम करती है। यह मुझे आज ही तुमसे पता चला लेकिन मैंने कभी वसुंधरा को इन नजरों से देखा ही नहीं। मेरे लिए सारी पराई औरतें बहन के समान हैं। मैं खुद वसुंधरा से बात करूंगा और उससे आजीवन राखी बंधवाऊंगा। प्रेम का दूसरा रूप भी तो है। भाई-बहन का। वसुंधरा का कोई भाई भी नहीं है। मैं इसकी क्षतिपूर्ति करूंगा।" दूसरे दिन इन्होंने वसुंधरा को बुलवाया उसे प्रेम से सब कुछ समझाया। वह भाव विह्वल होकर इनके पैरों पड़ गई। इन्होंने उसी समय धागा मंगवाया और वसुंधरा ने इनकी कलाई पर राखी बांधी। दो साल हो गए। रक्षाबंधन निकल गए। आज वसुंधरा मुझसे कहती है।

"दीदी! तुम्हारे पति ईश्वर हैं।"

"सच में बीबी जी, मैंने भी कई बार ननदोई जी को आजमाया। हर बार खरे सोने की तरह कसौटी पर उतरे।

"भाभी तुमने कैसे आजमाया?"

"तुम्हारे शादी के दो साल बाद हमारी शादी हुई। पहली होली पड़ी। उस समय ननदोई जी क्या गजब के बांके थे। मन तो चंचल है बीबीजी डोल गया। सोचा होली के बहाने ननदोई जी को फिसला दूंगी लेकिन वाह रे भोले-भंडारी। अपने हाथों से रंग नहीं लगाने दिया बोले- "भाभी जितना भी रंग डालना हो, मैं यहा बैठ जाता हूँ। आज बाल्टियां उलटती जाइए। इसी तरह आप बैठ जाइए मैं आपको रंग दूंगा।"

"सच में भाभी मैंने पता नहीं किस जन्म में हीरे-मोती दान किए जो मुझे देवता जैसा पति मिला।"

"सच बीबी जी, उस होली से तो मैं भी उनकी पूजा करने लगी। कोई दूसरा मर्द उनकी जगह होता तो मौके-दस्तूर और रिश्ते का जीभर कर फायदा

उठाता। कौन था रोकने वाला जब सामने से हरी झंडी जो मिल रही हो।" मैंने उस रात सही तौर पर अपने पिताजी के चरित्र की बारीकी को समझा। क्यों दुनिया उन्हें आदर देती है। क्यों पूरा गाँव उनके सम्मान में उठ खड़ा होता है? क्यों वे पिछले 15 वर्षों से गाँव के निर्विरोध निर्वाचित सरपंच हैं?

मैंने देखा अभी भी अज्जू बेफिक्री से खर्राटे लेकर सो रहा है और मेरे सामने पिताजी और अज्जू की प्रेम व्याख्याएं हैं। कौन सही और गलत? सच यह है कि पिताजी सच के रास्ते पर हैं। सच पहाड़ की चोटी जैसा होता है। मुझे एहसास हुआ कि मैं संवेद उर्फ राजकुमार, राय साहब इकबाल बहादुर का लड़का हूँ। मेरे लिए गौरव की इससे बढ़कर और क्या बात होगी?

दूसरे दिन हम बैलगाड़ियों से गुरारिया लोट आए। मिडिल की परीक्षाएं निकट आती जा रही थीं। मैं भूत की तरह तैयारी में जुटा था। न खाने का होश न सोने की फिक्र। बस मेरे सामने एक ही लक्ष्य था कि मुझे मिडिल बोर्ड में पूरे जिले में अव्वल आना है। माँ बादाम, दूध, फल टेबिल पर रख जातीं जब भूख महसूस होती तो दूध पी लेता। बादाम खा लेता लेकिन फल छीलकर खाने का मन नहीं होता। फल छीलकर खाने में बहुत वक्त जाया होगा, तब तक एक लेशन का और रिवीजन हो जाएगा। फलों को जस का तस रखे देखकर माँ बड़बड़ातीं लेकिन मेरी सेहत पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। लगातार किताबों से जूझते हुए जब लंबा समय हो गया तो एक खाली पन मस्तिष्क में बिखर गया। मन कुछ बदलाव चाहता है। मुझे लगा आशा के यहाँ चलना चाहिए। उसकी क्या तैयारी चल रही है। एक हफ्ते से पढ़ाई के चक्कर में उसके घर भी जाना नहीं हुआ। चलो। एक बार उसकी खैरियत पूछ ली जाए। इसी ख्याल से भरा हुआ मैं चप्पलें पहनकर आशा के घर की तरफ चल दिया। अप्रैल की गर्म दोपहर में पूरा गाँव शांत था। किसी-किसी घर में किसी नवजात शिशु का रोना उस दोपहरी के सन्नाटे को तोड़ देता। टहलता हुआ मैं आशा के घर पहुँचा उस समय उसके अलावा वहाँ कोई नहीं था। बातचीत में उसने बताया कि- "माँ-पिताजी अमरही गए हैं श्याम के पास। किताबों और फीस के पैसे जो देने थे। शाम तक लौट आएंगे। माया को यहाँ मेरी देखभाल के लिए छोड़ गए हैं, अभी-अभी उसकी माँ ने उसे आवाज देकर बुलाया था इसलिए अपने घर गई है। आओ। बैठो बहुत दिनों बाद याद आई। मैंने भी जानबूझकर डिस्टर्ब नहीं किया अपने मोहन प्यारे को।" आशा की बात में व्यंग्य भी था, उल्लास भी था और एक अव्यक्त निष्प्रभाव भी था। मैं पलंग पर बिखरी किताबों को एक तरफ रखकर बैठ गया आशा भी मेरे करीब आ गई।

"कैसी तैयारी चल रही है आशा?"

"हम तो पैदाइशी गांधी वादी हैं। हर साल तीन डंडे लाते हैं और वैतरणी पार कर लेते हैं। फिक्र तो हमें तुम्हारी है। तुम तो हर साल एक डंडा ही खाते हो इसलिए सुधरे हुए हो। अपनी लाइन पर हो। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह तुम्हें खूब कामयाबी दे। वैसे भी अब तुम और मैं अलग हैं क्या?"

"अच्छा खैर छोड़ो अब शादी के कितने दिन बचे हैं?"

"ऐसे पूछ रहे हो जैसे महाशय को कुछ पता ही नहीं। अरे पिताजी के साथ तुम ही तो गए थे बड़े महाराज के यहाँ विवाह का शुभ मुहूर्त पूछने और अब भूल भी गए। बड़े भोंदू किस्म के नौजवान हो। पढ़ाई के अलावा तुम्हें कुछ करना भी आता है या नहीं?" आशा ने मेरे बालों को लगभग नोंचते हुए कहा। मुझे भी शरारत सूझी उसके वक्ष पर दो नागिन सी लंबी चोटियां लहरा रही थीं मैंने दोनों हाथ से चोटियां खींच दीं। आशा चीखती हुई मेरी गोद में आ गिरी। उसकी पीठ पर उंगलियां फेरते हुए मैंने कहा-

"सच बताना तुम्हें मेरी याद आएगी या पिया का घर इतना प्यारा हो जाएगा कि मायके की याद ही न करोगी?"

"पिया के घर से बड़ा कौन सा घर होता है? राजू! पिया को तुमने देखा ही है कितना मासूम कितना प्यारा राजदुलारा है। तुम्हारी तरह पढ़ाऊ और पुस्तक पागल थोड़े ही है। दो साल से दसवीं में फेल हो रहा है। खूब फिल्में देखता है। दारु पीता है। ताश खेलता है। लंबरदार का लड़का है। जिंदगी को खूब मस्ती से जीता है। ऐसे मस्तमौला से मिलकर भला कौन मस्त नहीं हो जाएगा। तुम शायद मुझसे जलने लगे हो। मेरा ब्याह तुमसे पहले जो होने जा रहा है?" कहकर आशा खिलखिला पड़ी। मुझे लगा आशा मेरी मुट्ठियों से रेत की तरह लगातार फिसलती जा रही है। अज्जू मुझ पर हावी हो गया। प्रेम क्या लफड़ा ही है? अज्जू सच कह रहा था मीना आज भी अपना पति धर्म छोड़कर उसके साथ है। क्या सभी युवतियां इसी तरह की होती हैं जो दोनों हाथों में लड्डू थामकर अपना उल्लू सीधा करती है। आशा के जितने नजदीक आता हूँ उतना ही संयमित हो जाता हूँ। क्या मेरा पौरुष चुक गया है। अज्जू की तरह मैं पहलवान न सही लेकिन ठोस मर्द तो हूँ ही। अपनी मर्दानगी को कभी परखा ही नहीं? आज मौका है। यह भी हो जाने दो। आशा का मन टटोलने के लिए मैं बोला- "आशा एक ख्वाहिश है।" "बताओ क्या?" "पहले पूरी करने का वचन दो तो बताऊ?" "मैं इसी समय तुम्हारे निर्वस्त्र बदन को देखना चाहता हूँ।" आशा एक क्षण मेरी गोदी से उठी और अपनी सलवार का नाड़ा खोलने लगी फिर कुरते को उतारा वह मेरे समक्ष आदमजात खड़ी हो गई। लो मोहन। एक पल नहीं लगा तुम्हारी आशा प्राकृतिक अवस्था में तुम्हारे सामने है।" मैंने

पलंग पर रखी चादर उसके ऊपर डालते हुए कहा- "बस करो आशा। अब कहने के लिए मेरे पास कुछ बचा नहीं"

"क्यों नहीं बचा कुछ मोहन। सब कुछ अनछुआ है। सब कुछ तो अनचीन्हा है। मैं कहाँ समझ पाई अपने मोहन को और मोहन भी कहाँ समझ पाया अपनी राधा को। आओ लंबी सलाखें खूब गर्म करके लाओ और मेरे शरीर के हर हिस्से को दाग दो। इतने दाग बनाओं जितने मेरे शरीर की रोमावली है। मोहन इस शरीर को जीते जी जला डालो। यही तुमसे मुझको अलग कर रहा है।" मेरे कानों में आशा की सिसकियां गूंज रही थीं। वह फिर से निढाल होकर मेरी गोद में पड़ी हुई थी और मेरी हिम्मत उसकी पीठ पर अपनी उंगलियां फिराने की भी नहीं थीं। अज्जू की मीना और मेरी आशा के बीच जो अंतर है वह मेरे सामने है। मनुष्य के भीतर का पशु कभी भी उसके देवत्व पर हावी हो सकता है। अज्जू का राक्षस मेरे ऊपर अचानक सवार हो गया। बिना कुछ सोचे-समझे क्या कह डाला? यह जानते हुए भी कि इस दुनिया में अगर एक हजार अज्जू हैं तो उनमें से एक मेरे पिता भी हैं जिन्हें वसुंधरा का असीम यौवन लुभा नहीं पाया। मैं उन हजारों में हूँ या एक में? यह फैसला मुझे ही करना है। अज्जू का सच मेरा सच नहीं हो सकता।

मैं बिना कुछ बोले आशा को अपनी गोद से मुक्त कर घर चला आया। घर आकर अपने पलंग में उसी तरह निष्प्राण लेट गया जैसा कि बीमारी के वक्त लेटा करता था। माँ ने पूछा भी- "कहाँ गया था?" मैंने धीमे से कहा- "आशा के यहाँ।" फिर माँ ने कुछ न पूछा और मैंने भी कुछ बताया नहीं। वैसे भी मेरे पास बताने के लिए था ही क्या?

इम्तहान शुरू हो गए। मैंने बड़े बेमन से पर्चे दिए। कभी लगता फेल हो जाऊं पिछले सात सालों से पास ही तो होता आ रहा हूँ। एक बार फेल होकर भी देखा जाए लेकिन माँ-पिताजी की अपेक्षा और आशा से लवरेज चेहरे आंखों के सामने आ जाते और मैं पुनः सही ढंग से उत्तर लिखने की कोशिश करने लगता।

परीक्षा समाप्त हो गईं तो ऐसा लगा अब करने के लिए मेरे पास कोई काम बचा ही नहीं। एक खालीपन पूरे व्यक्तित्व में फैल गया। एक मन हुआ इशाक के पास जाऊं। उसे तालाब तक ले जाऊं। उस पार तक तैर कर आएं और फिर थकान से चूर शरीर को पेड़ों की छांव में विश्राम दे लेकिन मन नहीं हुआ। क्या करूं? देखा माँ पापड़ बेल रही हैं। चले अपन भी पापड़ बेले। माँ के पास जाकर बैठ गया। माँ बड़ी तन्मयता से पापड़ बेल रहीं थीं। मैंने उनके हाथ से बेलन लेते हुए बालहट किया "लाओ माँ मैं पापड़ बिलवा दूं।" माँ ने स्नेह से सिंर पर हाथ फेरते हुए कहा- "बेटा कड़ी मेहनत से अभी-अभी निबटा है। कुछ

दिन अपने मामा जी के यहाँ चला जा। मन कुछ दूसरा सा हो जाएगा। यूं भी बेटा आदमी जिदंगी भर पापड़ ही तो बेलता हुआ ऊपर चला जाता है।'' माँ के पास किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री नहीं है लेकिन उनके पास ज्ञान और अनुभवों का गहरा और समृद्ध खजाना है। रामायण का नित पारायण करना बिना स्नान किए दिन की शुरूआत न करना। देश-दुनिया के जितने व्रत और उपवास कथा-पूजन सबसे सहजता और संयम से गुजर-जाना उनके स्वभाव के मजबूत पहलू रहे हैं। माँ का स्वभाव शांत, गंभीर और झील सा गहरा था। कम से कम शब्दों से काम चलाना कोई उनसे सीखे। पिताजी बिल्कुल उलट थे माँ से। खूब महफिल बाज उत्सवप्रिय। दीवाली के पन्द्रह दिन पहले ही पूरे घर को पेंट करना। दरवाजों पर आकृतियां उकेरना और ढेर सारे पटाखे लाकर पूरे गाँव के युवकों को बांटना। सेठ जी की हवेली से ज्यादा जोरदार और रंगदार दीवाली हमारे घर की होती थी। पूरा गाँव उमड़ पड़ता कि राय साहब के यहाँ चलो दीवाली मनाने।

होली का भी यही आलम था। भांग की ठंडाई घोटी जाती। लोग छककर पीते और फिर जमकर धमाल मचाते। क्या मजाल कोई ओछी या हल्की बात हो जाए। हर पर्व हर उत्सव खूब जमकर मनाया जाता लोग पूरे साल होली-दीवाली का इंतजार करते। घर में गीता प्रेस गोरखपुर की मासिक पत्रिका 'कल्याण' आती जिसे पूरा घर पढ़ता। पिताजी भी खाली वक्त में लेखन करते। व्यवस्था के खिलाफ़ उनके विचार बड़े क्रांतिकारी होते। कभी-कभी वे मुझसे भी देश और दुनिया के बारे में बातें करते।

पिताजी राजनीति में सक्रिय रूप में तो थे लेकिन वे अपने लिए व्यापक विस्तार चाहते थे।

पिताजी मुझसे ज्यादा बातें करते थे इसलिए मुझे सदैव यह भ्रम रहा करता था कि भाई बहनों में वे मुझे सबसे ज्यादा चाहते हैं। स्वयं पिता बनने के बाद मुझे कई सालों बाद यह पता चला कि पिता के लिए उसकी सभी संतानें समान स्नेह, दुलार और प्रेम का संतुलित भाजन होती हैं।

पिताजी इस समय आशा की शादी की तैयारियों में लगे थे। माला मौसी ने उन्हें शादी की तमाम जवाबदारियां सौंप दी थीं। बारात कहाँ ठहराई जाएगी? नाश्ते में क्या परोसा जाएगा? दोपहर के भोजन में क्या रखा जाए और रात का भोजन कैसा हो? आशा के कपड़े और गहने तो वे इंदौर से लेकर आ ही गए थे। माँ भी अपना आधा दिन और आधी रात आशा के घर ही गुजारतीं। एक अकेला मैं फालतू था जिसके पास कोई काम नहीं था। हाँ 24 मई यही आशा की शादी की तारीख थी। आज 16 मई है। ठीक 8 दिन बाद आशा चली जाएगी। इस कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते। मैं घर से भाग जाना चाहता था।

मैं आशा को पराई होते नहीं देख सकता। दूसरे दिन सुबह सबेरे सायकल उठाई। बेग में अपनी जरूरत के कपड़े रखे और माँ से अमरही जाने का कहकर निकल गया। खूब तेज-तेज पैडल मारते हुए मैं अपना सारा क्षोभ सायकल पर उतारता रहा। बीच में बस बटेरी पर रूका। कुछ नाश्ता लेकर पानी पिया। आम के पेड़ की छांव में लेटकर थकान मिटाई और फिल चल दिया। तपी दुपहर में भी मुझे एक पल यह नहीं लगा कि लू लग जाएगी। वही हुआ। अमरही पहुँचकर मैं पस्त पड़ गया। रात को उल्टी-बुखार ने आ घेरा मामीजी मेरे सिरहाने रात भर बैठी रहीं। अज्जू मेरे तलबों पर प्याज रगड़ता रहा। आधी रात गए आंख लगी। सबेरा हुआ तो पूरा शरीर टूट रहा था। मैं आंखें बंद करके लेट गया। दूसरे दिन थकान कम हुई तो अज्जू के साथ तालाब तक सैर करने निकल पड़ा। अज्जू ने रास्ते में बताया कि - "मीना की गोद भर गई है। एक प्यारे से सपूत को उसने इस दुनिया को दे दिया। आस-पड़ोस में खुसर-पुसर होती है कि लौंडा पूरा अज्जू पर गया है।"

मैंने लगभग जुगुप्सा भरे लहजे में कहा- "अज्जू तुझे शर्म हया है कि नहीं। पराई औरत से अभी तक बंधा हुआ है। पहलवानी का उद्देश्य क्या यही है। अरे निसहाय और निशक्त लोगों की रक्षा करना पहलवानों का धर्म होता है। एक तू है कि अपनी ताकत गंदी नाली में बहा रहा है।"

अज्जू खिसिवानी हंसकर बोला

"महाप्रभु अपने उपदेश और प्रवचन बंद करो और यह बताओ कि हमारी आशा भाभी के क्या हाल हैं?"

"अज्जू 24 तारीब को उसकी शादी है, इसके बाद वह सदा-सदा के लिए मेरी जिदंगी से चली जाएगी। अब मुझे भी अगने सत्र यही एडमीशन लेना है इसलिए अभी से आ गया अब लौटकर गुरारिया जाने का कोई इरादा नहीं।" अज्जू ने अपनी आंखों को फैलाते हुए कहा- "सुहागरात मना आए या उस लंगूर के लिए सब कुछ छोड़ आए?" मुझे गुस्सा तो इतना आया कि अज्जू के गाल पर एक तमाचा जड़ दूं लेकिन फिर कुछ सोचकर रह गया।

इस लड़के को गंदी बातों के अलावा अच्छा कुछ आता ही नहीं। मामाजी तो दिन भर कचहरी में बिजी रहते थे। मामी अपने घर से फुरसत कहाँ पाती थीं? उसपर इकलौता लड़का। पैसे की कमी नहीं। श्रीराम व्यायाम शाला के नामी गिरामी पहलवान। पूरा कस्बा अज्जू के चौड़े सीने और बजनदार हाथों से खौफ खाता था। पिछले साल नवाब सईद खां ने बस इतना ही कहा था "पहलवान जी कमीज के बटन लगा कर चला करो। गज भर की छाती है तो क्या उसे दिखाते फिरोगे।" अज्जू ने आव देखा न ताव और सईद मियां को कुर्सी समेत

उठाकर सड़क पर पटक दिया फिर गेंद की तरह इतनी बार उछाला कि सईद मियां की हड्डी पसलियों का भुरता बन गया। कई दिनों सर्जिकल वार्ड के मेहमान रहे। कुछ लोगों ने थाने में एफ.आई.आर. दर्ज कराने की बात भी उठाई लेकिन श्रीराम व्यायाम शाला के पहलवानों के डर से इरादा भी मुल्तबी कर दिया गया। अज्जू मुझे छोड़कर मीठे कुएं की तरफ बढ़ गया था। कई युवतियां वहाँ पानी भरने आई थीं, वह उन्हें देखकर अपनी प्यास बुझा रहा था।

मैं अज्जू के बारे में लगातार सोच रहा था। मेरी ही उम्र का है लेकिन बदन पहाड़ सा निकल आया है। मूंछें भी आ रही हैं। गोल-मटोल चेहरा। छोटे-छोटे पहलवान कट बाल। दबा हुआ सांवला रंग लेकिन चढ़ती जवानी के कारण गबरू जवान सा अलग ही दिखता। शुरू से मुझसे खूब प्रेम करता है। राजकुमार आ भर जाए फिर तो तमाम लौड़ियों को छोड़कर वह मेरे आगे पीछे। बरफ का लड्डू खाएगा? काशी की कचौड़ी लेगा। वीरभान की इमरती तो खा ही ले यार।''

कहते-कहते उसका मुँह नहीं थकता। सगे भाई से भी ज्यादा प्यार दिया है अज्जू ने मुझे। अज्जू के साथ दिन का पता ही नहीं चलता। एक दिन पता नहीं क्या सूझी वह मुझे धकियाता हुआ मीना के घर ले गया। उस समय घर में सिर्फ मीना की भाभी थी। मीना के सामने मुझे खड़ा करके बोला- ''देख क्या रही है अपने जेठ के पैर छूकर आशीर्वाद ले।'' मीना अभी झुकी ही थी कि मैं वहाँ से भाग खड़ा हुआ। अज्जू चिल्लाता ही रह गया। ''राजू दादा रुको।'' मैं भला किस मुंह से वहाँ रूकता। केवल 4 महीने ही तो उससे बड़ा हूँ और उसकी जुर्रत तो देखो पराई औरत का मुझे जेठ बना रहा था। पता नहीं अज्जू कब सुधरेगा? दिन निकलते भला कितनी देर लगती है? 24 मई आई और चली गई। मैं अज्जू के साथ उस रात श्रीराम व्यायाम शाला चला गया। कुछ दंड-बैठक लगाई और एक-दो पहलवानों से दो-चार हाथ किए गनीमत यह रही कि अज्जू का बड़ा भाई समझ कर पहलवानों ने चारों खाने चित नहीं किया। व्यायाम शाला से लौटकर बादाम की लुगदी और दूध पीकर जो मैं सोया तो सुबह मामीजी ने उठाया। रात को खाना न खाने का प्रेम भरा उलाहना भी दिया।

25 मई की दोपहर मुझे महसूस हुआ कि मैं जीवन की पहली परीक्षा में अव्वल दर्जे से पास हो गया। शाम होते ही व्यायाम शाला चले जाते। दिन भर खेतों में रहते। नदी में तैरते खरबूजे-तरबूजे खाते और घर चले आते। दिन अब काफी इत्मीनान के साथ बीत रहे थे।

माँ की याद तेज हो गई। माँ को देखे आज 15 दिन हो गए। अज्जू को साथ चलने के लिए मनाया वह इस शर्त पर जाने को ऱाजी हुआ कि मोटर सायकल से सबेरे चलेंगे और शाम तक वापस आ जाएंगे। मैं भी गुरारिया ज्यादा

टिकने के मूड़ में नहीं था बस माँ-पिताजी से मिल आऊं और शाम को अज्जू के साथ वापस फिर अमरही।

सोचकर तो कुछ गया था लेकिन हुआ कुछ अलग ही। पिताजी विधानसभा का चुनाव लड़ने के लिए मन बना चुके थे। स्वतंत्र उम्मीदवार की हैसियत से वे अपना पर्चा भी दाखिल कर आए थे। जनसंघ से केदारनाथ अग्रवाल और कांग्रेस से मदनलाल गर्ग मैदान में थे। पिताजी ने अज्जू और मुझे अमरही जाने नहीं दिया बल्कि चुनावी पोस्टर चिपकाने का और वाल पेटिंग का काम हम दोनों के जिम्मे छोड़ दिया। रात को माँ ने बताया कि माला मौसी और आशा आखिरी वक्त तक तुझे याद करती रहीं। तू निर्दयी अमरही का होकर रह गया। वर सुंदर और मालदार था। बारात में एक दर्जन रंडियां और पचास बेड़नियां नाचीं। हरभजनलाल दो सौ आदमी बारात में लाए। हर बाराती के कंधे पर दोनाली झूल रही थी। गाँव में अरसे बाद ऐसी बारात देखने मिली। मैं चुपचाप माँ से विवाह वृतांत सुनता रहा न कोई टीका न टिप्पणी।

मैं आशा को भूलने के लिए ऐसे काम की तलाश में था जो मुझे मौका भी न दे कि मैं कुछ सोच सकूं। चुनाव का काम बहुत बड़ा था। पिताजी लोकप्रिय तो थे। लोग उनका आदर भी करते थे लेकिन वे किसी पार्टी बाजी पर भरोसा नहीं रखते थे। जनसंघ और कांग्रेस दोनों ही पार्टियों के प्रदेश अध्यक्षों ने राजधानी बुलाकर पिताजी को पार्टी का टिकट देने पर राजी करना चाहा लेकिन पिताजी ठहरे आदर्शवादी उनके नजरिए से कांग्रेस और जनसंघ दोनों ही दागी पार्टियां हैं। पिताजी को चुनाव चिन्ह मिला था घोड़ा। ढेर सारे पोस्टर छपकर आ गए थे। अज्जू ने गाँव के युवकों की टोलियां बनाईं। सबके क्षेत्र बांट दिए। वाल राइटिंग का काम भी विभाजित कर दिया। पूरे क्षेत्र में पोस्टर चिपकाने के लिए पांच जीपों का प्रबंध हो गया था। गाँव-गाँव जाकर हमने पोस्टर चिपकाए। दीवारों पर लिखवाया कई दिन इसी तरह निकल गए। फिर पिताजी की चुनावी सभाओं का तूफानी दौरा शुरू हुआ। एक गाँव से दूसरे गाँव इस दौरे में जनता का उत्साह देखकर मुझे लगा कि पिताजी जरूर जीतेंगे। जनसंघ और कांग्रेसी उम्मीदवार भी यह मानकर चल रहे थे कि राय साहब के सामने वे असहाय हैं। राय साहब ने पिछले 15 सालों में जो ठोस काम जनता के वास्ते किए थे वे सबकी जुबान पर थे। सच्चरित्रता, ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा और संकल्पशील नेता की छवि इस तरह निर्मित हो गई थी कि उनसे टक्कर लेना दोनों पार्टियों के उम्मीदवारों को भारी पड़ रहा था। महिला विंग की कमान माँ ने थाम रखी थी। गली-गली, कूचे-कूचे जाकर ग्रामीण महिलाओं से मिलकर उनका दुख दर्द बांटना उनकी दिनचर्या का संपूर्ण हिस्सा हो गया था। बसुंधरा भी माँ का दाहिना

हाथ बनकर चुनावी कमान संभाले हुए थी। जहाँ भी पिताजी की चुनावी सभा होती उन्हें सुनने लोग उमड़े चले आते। फूल मालाओं से उन्हें लाद दिया जाता। चार खेत बेचकर पिताजी ने चुनाव लड़ने का फैसला लिया था लेकिन पैसे की भारी कमी पड़ गई। मित्रों ने कुछ रकम दी लेकिन विधानसभा क्षेत्र का चुनाव था किसी गाँव की सरपंची का चुनाव थोड़े ही था। दो खेत अभी बाकी थी पिताजी ने एक ओर बेच दिया। पूरे आत्मविश्वास से भरे पिताजी और अधिकतर राजनीतिज्ञों को यह भरोसा था कि यह सीट तो राय साहब को ही जाएगी। पिताजी और उनके सहयोगी दिन-रात लगे रहे। मतदान का दिन आया। पिताजी को अपनी जीत का पक्का भरोसा था लेकिन जब चुनाव परिणाम सामने आया तो पिताजी मात्र 546 मतों से अपने निकटतम जनसंघी प्रत्याक्षी से पराजित हो गए। चुनावी नतीजा सुनकर पिताजी को ऐसा सदमा लगा कि गुरारिया से उनका मोह भंग हो गया जो एक खेत बचा था उसे तीन लाख में बेचकर वे सदा के लिए अमरही आ गए। एक तरह से उन्होंने राजनीति से संन्यास ले लिया था और अपना पूरा समय अपने आराध्य श्रीराम के चरणों में व्यतीत करने लगे।

पिताजी ने तीन लाख रुपये बैंक में डाल दिए। खर्च वही थे लेकिन आमदनी सिकुड़ गई थी। धीरे-धीरे पैसा कम होने लगा। तीनों भाई अभी पढ़ ही रहे थे। मैंने दसवी की परीक्षा दी थी। भाई साहब बी.ए. कर रहे थे। पिताजी को लगा कि अमरही में हमारे लिए उच्च शिक्षा दिला पाना कठिन है। यही सोचकर उन्होंने प्रदेश की राजधानी की ओर रूख किया। हमारे दाखिले हो गए। इस बीच पिताजी ने एक-दो बिजनेस किए लेकिन अनुभव और जानकारी के अभाव में सारे बिजनेस चौपट हो गए। वे चारों ओर से हताश होकर घर में बैठ गए। पिताजी के हाथ में हुनर कई थे लेकिन वक्त ने उन्हें कुछ भी नहीं करने दिया। बड़े भाई एक लांड्री पर मैनेजर का काम करने लगे। घर में खाने वाले 7 और कमाने वाला एक मैंने भी स्कूल को अलविदा कहकर घर चलाने में सहयोग देने का संकल्प लिया। दसवीं पास को भला नौकरी कहाँ मिलती। मैंने कोई भी काम करके ईमानदारी से कुछ धनोपार्जन का फैसला लिया। कुछ दिन मजदूरी की तगाड़ियां उठाईं। फावड़े से मसाला तैयार किया और बनते हुए मकानों की नींव से शिखर तक की संरचना यात्रा का साक्षी बना। स्कूल में अध्यापकों को जब मेरी दर्दनाक स्थिति का पता चला तो उन्होंने मुझे हौसला दिया कि तुम पढ़ाई मत छोड़ो। हाजिरी हम भर देंगे। फीस हम देंगे। तुम केवल इम्तहान देने आ जाया करो।

बचपन बेहद शान-शौकत और अमीरी में बीता जब जवानी आई तो एक के बाद एक मुसीबतों के पहाड़ टूटने लगे। मुझे आज भी याद है। भरी दोपहरी में ईंट-गारा ढोने के बाद 4 रुपए रोज मजदूरी मिलती। जैसे ही 4 रुपए मिलते

मेरी आँखों में चमक आ जाती। मेरे चेहरे में फिर जीने की तमन्ना जाग उठती। उन 4 रुपयों में से मैं आटा, नमक, मिर्च, सब्जी, तेल और लकड़ियां लेकर घर पहुँचता तो सुबह से बुझा हुआ चूल्हा शाम को रोशन होता। माँ सब्जी बनातीं। रोटियां सेंकती और सबकी थालियों में बारी-बारी से डालतीं। हम भाई-बहन अपने सभी आत्मीय संबंधों को भूल कर रोटियों पर झपट पड़ते। माँ मुझे एक रोटी ज्यादा देतीं ताकि मेरे पेट की दिन भर की सुलगती ज्वाला शांत हो जाए लेकिन पेट एक अंधा कुआं बन गया था। रोटियों का कोई खास असर नहीं होता और अधपेट ही सुबह काम पर जाने का इरादा लेकर सो जाता।

एक निचली बस्ती में हमने सोलह रुपये महीने पर एक कमारा लिया था। 6 लोग वहीं पर कीड़े-मकाड़ों की तरह सो जाते। कभी-कभी छोटे मामाजी दारू की बोतल और नमकीन की पुड़िया लेकर आ जाते। घर में बैठक कर शराब पीते फिर माँ से मूली के कोफते बनाने की फरमाइश करते। माँ चुप रहती। मैं ही मामाजी से कहता- "न मूली है, न बेसन है, न आटा है, कहाँ से आपके लिए खाना बनाकर खिलाएं।" मामा जी शराब के नशे में उदार हो जाते। "ले ये रुपये एक पाव दुबारा और बाकी चीजें ले आना। खाना तो बाई के हाथ का ही खाऊंगा।" मैं रुपए लेकर बाजार जाता। शराब, आटा, बेसन, मूली और मसाले खरीदकर लाता। माँ बनाने लगतीं। कोफते तलने लगते तो मामाजी कुछ कोफते शराब के साथ खाने के लिए ले लेते। एक-एक कोफता हम भाई-बहनों को भी मिल जाता। सब्जी तैयार होती तो मामाजी अपने हाथ से तरी-तरी निकालकर अपनी प्लेट में डाल लेते और बाकी जो सब्जी बचती वह हम सब में बराबर तकसीम हो जाती। एक दिन अचानक अमरही से अज्जू आ गया। उसने घर की हालत देखी तो माँ के हाथों में पांच सौ रुपए पकड़ा दिए। माँ और मैंने बहुत मना किया लेकिन जिद्दी अज्जू माने तब न। अज्जू मुझे बाजार ले गया। एक होटल में बैठकर हमने जमकर नाश्ता किया। चाय के दौरान अज्जू ने कहा- "पिछले हफ्ते आशा भाभी अमरही आई थीं। अपने घर भी आई थीं। वे तुम्हें बहुत याद कर ही हैं। अपनी ससुराल का पता दे गईं है। चलो यार मोटर सायकल लाया ही हूँ चलकर भाभी के हाल चाल देख आएं।

घर में पांच सौ रुपए आ गए थे। घर का राशन-पानी ले आया तो राहत मिली अब दो महीने तक रोज की मारामारी नहीं करनी पड़ेगी। पूरे परिवार को ऐसा लगा कि भगवान ने हमारे लिए अज्जू के रूप में देवदूत भेज दिया। जीवन संघर्ष ने तोड़ दिया। आशा की खबर पाकर उससे मिलने की इच्छा बलवती हो गई हालांकि स्थिति ऐसी नहीं थी कि उससे मिला जाए लेकिन अज्जू की जिद्द और भीतर से मेरी दबी हुई इच्छा ने हमें आशा की ससुराल जाने पर विवश कर

दिया। मोटर सायकल का धूल भरा सफर। कच्ची सड़क पर झटके मारती मोटर सायकल। आखिरकार शाम चार बजे हम दौलतपुर जा पहुँचे जहाँ आशा थी। हरभजनलाल की हवेली खोजने में दिक्कत नहीं आई। पूरे गाँव में पांच मंजिला एक ही हवेली थी। आश के ससुर ने परिचय प्राप्त किया तो वे खुश हुए कि राय साहब का लड़का और उसका ममेरा भाई आशा बहू से मिलने इतनी दूर से आए हैं। आशा का पति कमलसिंह हमें जनाने में ले गया। व्हाँ आशा हमारे स्वागत के लिए प्रतीक्षारत दिखी। ठंडा पानी दिया। पलंग पर बिठाया। नाश्ता कराया। माँ-पिताजी और भाई बहनों की कुशल क्षेम पूछी। मैंने भी माला मौसी के बारे में पूछा। अब माला मौसी का तबादला अमरही हो गया है और वे अज्जू के घर बराबर आती जाती रहती हैं। अज्जू भैया से ही तो तुम्हारे लिए संदेश भेजा। कमलसिंह हमारी खातिर तवज्जो के लिए कुछ विशेष इंतजाम की बात कहकर चला गया। इतनी बड़ी हवेली केवल चार प्राणी। आशा उसका पति, ससुर और सास। सास दूसरे कमरे में पलंग पर लेटी थी उन्हें हाइपरटेंशन का रोग था। दवा-दारू, चल रही थी। अज्जू, मैं और आशा कुछ देर चुप रहे फिर संवाद का सिरा आशा ने ही पकड़ा- "मोहन देख रही हूँ बहुत कमजोर हो गए। क्या बात है, मुझे नहीं बताओ।"

"आशा! बहुत कुछ बदल गया पिताजी ने चुनाव में लाखों फूंक दिए। सब कुछ स्वाहा हो गया। अब राजधानी में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहा हूँ। भगवान अज्जू को मेरी उम्र भी दे दे। इस भले मानस ने आज तुमसे मिलवा दिया वरना मैं तो तुम्हारी तरफ से पूरी तरह हताश ही हो गया था।" आशा की आंखे नम हो आईं। धीमे स्वर में बोली- "विधाता की लीला अपरंपार है मोहन। कल आज और कल में कितना फासला है। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह तुम्हें ओहदा दिलवाए जिसके तुम असली मालिक हो। कभी-कभी मुझसे मिलने आ जाया करो तो इसी उम्मीद पर कुछ साल और जी लूंगी।"

"आऊंगा आशा! जरूर आऊंगा जरा वक्त की निगाहें बदल जाएं जब हतना अच्छा समय नहीं रहा तो यह बुरा वक्त भी निकल जाएगा।" बातचीत और आगे बढ़ती कि कमलसिंह आ गया।

"चलिए साहब हवेली के दूसरे खंडे में चले। आपके स्वागत सत्कार के लिए हमारी हवेली तैयार है।" हम कमल सिंह के साथ हवेली के दूसरे खंड में गए। क्या आलीशान जगह थी। सेंटर टेबुल पर शराब की बोतले, गिलास, प्याले और काजू-बादाम सलीके से लगे थे। कमल सिंह का नौकर सिर झुकाए खिदमत में बाअदब हाजिर था। मैंने कमलसिंह से स्पष्ट कहा कि मैं पीता नहीं

हूँ। अज्जू आपका पूरा साथ देगा लेकिन कमल सिंह और अज्जू दोनों ही जिद्द पकड़ गए कि दोस्ती की शुरुआत जाम टकराने से हो। कमलसिंह कहने लगा "राय साहब। आपके पिताजी ने तो पूरी बारात को शराब के ड्रम में डुबा दिया था और आप हैं कि हमें अपनी ख्वाहिश पूरी करने से रोक रहे है।" अपने हालात और आशा की व्यथा को देखकर थोड़ी ना नुकुर के बाद मैंने भी जाम थाम लिया। महफिल लंबी चली देर रात तक जाम टकराते रहे। खाना खाकर हम वहीं सो गए। कमलसिंह अन्यत्र चले गए।

रात चार बजे अचानक आँख खुली तो मै। अपराध बोध से ग्रसित हो गया। बार-बार मन में यही ख्याल आता रहा कि मैंने शराब क्यों पी? और वह भी आशा के घर। सुबह उससे आँखे कैसे मिलाऊंगा? यही सोचकर जागता रहा। अज्जू अपनी आदत के मुताबिक खर्राटे भरता हुआ सोता रहा। सुबह के छः बज गए थे। पक्षियों की चहचहाहट स्पष्ट सुनाई दे रही थी। सूरज की किरणें भारी परदों की संदों में से आकर विशाल कक्ष में अपनी आयद दर्ज करा रहीं थीं। मैं आँखें खोले अपने अतीत में खो रहा था कि अचानक हाथ में मंजन का डिब्बा और एक तांबे का भारी लोटा लेकर आशा प्रकट हुई "मोहन जाग गए क्या?" मैं हड़बड़ाकर उठा और बोला- "आओ आशा बैठो।" आशा वहीं रखे एक मूढे पर बैठ गई। मंजन का डिब्बा और पानी का लोटा उसने पहले ही टेबुल पर रख दिया था।

"मंजन कर लो फिर चाय लाती हूँ।" कहकर आशा नीचे चली गई। मैं बाथरूम में घुस गया। वृहद बाथरूम बड़े-बड़े आदमकद शीशे चारों तरफ, मैं ही मैं दिखाई दिया। मैंने एक बारगी सवाल खुद से ही किया "बच्चू। यह तो आशा को पता चल ही गया कि रात शराब पार्टी में मेरी भी शिरकत रही अब भला किस मुँह से आशा का सामना करोगे?" अपने ही सवाल को मैंने गर्दन झटककर अलग करने की चेष्टा की। मंजन करके मैं बाथरूम से बाहर आया तब तक आशा ने करीने से चाय टेबिल पर सजा दी। उसके सामने वाली कुर्सी पर अपना मुँह चुराते हुए बैठ गया। आशा ने पुनः संवाद की स्थिति बनाते हुए कहा-

"रात को बड़ी दरे पार्टी चली?"

"कमल नहीं माने। मुझे भी पीनी पड़ी।"

"इसमें शर्माने की क्या बात है? मोहन!
तुम शायद आश्चर्य करोगे......."

"क्या आश्चर्य?"

"मैं भी पीने लगी।"

"कब से?"

"पहली ही रात से। कमल तो बचपन से ही पीते आए हैं। उनके खानदान में सुरा-सुंदरी की लंबी और ऐतिहासिक परंपरा है। पहली ही रात कमल ने बोतल खोली और मुझे पिलाने की जिद की। पहले तो मन में आया कि बोतल कमल के सिर पर फोड़कर यहाँ से भाग जाऊं फिर लगा कि इधर मोहन ने इतनी बेरूखी दिखाई कि मुझे विदा करने भी नहीं आए इधर कमल की जिद कि शराब पियो। स्थितियां कुछ ऐसी बनी कि पहले जाम से जो कहानी शुरू हुई तो आज शराब मेरे जीवन का एक अनिवार्य हिस्सा बन गई है। बिना शराब पिए अब मैं रह ही नहीं सकती। कमल ने यह अच्छा ही किया कि तुम्हें भी शुरूआत करा दी। तुम्हें तो पता ही है कि शराब के सहारे ही मीना कुमारी ने अपने दर्द का सफर तय किया था।"

"आशा! तुम इतने जल्दी इस कदर बदल जाओगी यह कभी नहीं सोचा था। मर्द शराब पिएं यह तो आम बात है लेकिन तुम?"

"मर्द जो करे सही मर्द औरत से बलात्कार करे अच्छा। मर्द औरत को नंगा देखने की ख्वाइश करे यह अच्छा। मर्द दिल के टुकड़े-टुकड़े करके चला जाए यह अच्छा। मर्द शराब पिए तो अच्छा। औरत अपनी ख्वाईश जाहिर करे तो बुरा औरत अपनी मर्जी से जीने की कोशिश करे तो यह बुरा। आखिर मर्दों ने औरत को समझ क्या रखा है। कमल कहते हैं कि शादी से पहले उन्हें हर रात एक नई लड़की की जरूरत पड़ती थी। क्या कोई पत्नी अपने पति से यह कह सकती है। पहली बात तो हर औरत के जीवन में रोज नया मर्द आ ही नहीं सकता क्योंकि औरत ठहराव चाहती है। स्थिरता चाहती है। स्थायित्व चाहती है। वह भटकती नहीं है और एक बार वह भटकी तो दुनिया की कोई ताकत उसे रोक नहीं सकती।" "आशा! देख रहा हूँ और महसूस कर रहा हूँ कि तुम बहुत बदल गई हो। इतना बदलाव अच्छा नहीं।" आशा ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। उसने दो प्यालों में चाय डाली। एक प्याला उसने मेरी तरफ खिसका दिया औ दूसरा अपने होठों से लगा लिया हम खामोशी से चाय पीते रहे। मैंने मार्क किया कि आशा चाय भी व्हिस्की की तरह घूंट-दर-घूंट पी रही है।

"अब हम लौटेंगे।"

"इतनी जल्दी क्या है? आज और रूक जाओ। तुमसे ढेर सारी बातें करनी हैं। "लौटना ही होगा आशा। घर की परिस्थितियां ऐसी हैं कि वे कहीं दूसरी जगह रूकने की इजाजत नहीं देती हैं।"

"मैं नाश्ता तैयार करवाती हूँ। कम से कम नाश्ता करके तो जाना।"

"ठीक है। तब तक अज्जू को उठाकर उसे तैयार कराता हूँ।"

आशा नाश्ता की तैयारी में नीचे चली गई। मैंने अज्जू को जगाया। वह उठा तैयार हुआ और हम नीचे वाले खंड में पहुँच गए। कमलसिंह भी उठ गए थे। नाश्ता की टेबिल पर अनौपचारिक गपशप हुई और हम चल दिए। रास्ते में थोड़ी ही दूर चले होंगे तब अज्जू ने कहा- "दादा। आशा भाभी ने मेरे कोट की जेब में आते समय चुपके से कुछ डाल दिया था था।"

"गाड़ी रोककर देखो अज्जू क्या है?"

"अभी रोकता हूँ।" कहकर अज्जू ने मोटर सायकल के ब्रेक लगा दिए।

"जल्दी निकालो कोट की जेब में क्या रख दिया आशा ने?"

अज्जू ने कोट की जेब में हाथ डालकर एक रूमाल निकाला जिसमें कुछ रखा था अज्जू ने गांठें खोली तो सौ-सौ के नोटों की एक गड्डी के साथ एक स्लिप मिली। अज्जू नोट गिनने लगा। मैंने स्लिप पढ़ी- "मोहन! तीखी धूप में तुम रेत पर सफर कर रहे हो। मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम खुद को कभी अकेला महससू मत करना। मुझे उम्मीद है कि मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार कर लोगे। फिर तुम कब आओगे मुझे यह पता नहीं लेकिन तुम सदैव मेरे साथ हो।" "दादा! पूरे दस हजार की गड्डी है।" अज्जू ने उछलते हुए कहा। मुझे लगा किसी ने मेरे सिर पर दस घड़े फोड़ दिए हो। मेरी खामोशी पर अज्जू ने ठहाका लगाया और गाड़ी स्टार्ट कर दी। रास्ते भर कुछ बात करने का मन नहीं हुआ। एक समय वह था जब हम दूसरों पर दया दिखाते थे। आज लोग हम पर दिखा रहे हैं। अज्जू दूसरे दिन ही अमरही चला गया। पैसा आदमी को कितनी ताकत देता है। अज्जू ने 500 रुपए दिए तो घर का राशन-पानी चलने लगा। आशा ने 10,000 दिए तो तीनों भाई-बहन समेत मैंने फीस दी। किताबें कापियां लाए और पढ़ाई ठीक ढंग से चलने लगी।

रोजाना की मजदूरी से मैं छुटकारा पाना चाहता था हमारे ही पड़ोस में हरिसिंह रहता था। वह सचिवालय में चपरासी था उसका लड़का दिलीपसिंह भी डेली बेसिस पर सचिवालय में काम करता था। दिलीप सिंह मेरी ही उम्र का था। एक दिन मैंने उससे बात की-

"यार! सचिवालय में मेरे लिए काम देखना।"

"काम तो मिल जाएगा लेकिन क्या तू करेगा?"

"हाँ। क्यों नहीं।"

"काम मजदूर का है। एक ट्राली में इस मंजिल का सामान उस मंजिल पहुंचाना है।"

"पैसे कितने मिलेंगे?"

"दो रुपए बीस पैसे रोज।"

"यार! ये तो कम हैं।"

"देखो लगे रहो। मैं भी दो साल से यही कर रहा हूँ। लगे रहोगे तो पक्की नौकरी भी मिल सकती है।"

"ठीक है कल से चलते हैं।"

दूसरे दिन मैं दिलीप के साथ सचिवालय गया। जिंदगी में इतनी बड़ी बिल्डिंग मैंने पहली बार देखी। मुख्य प्रवेश द्वार पर सुरक्षाकर्मी ने मेरा पास बनाया। हम केयर टेकर के पास पहुँचे। केयरटेकर शर्मा जी थे। सिर के बाल उड़ चुके थे। पूरा चांद था। धोती-कुरता पहने वे सज्जन मुझे अच्छे लगे। हमारे वहाँ पहुँचते ही मजदूरों की लाइन लग गई। सभी को काम की जरूरत थी। शर्माजी ने पता नहीं क्या सोचकर पहले ही दिन मुझे काम दे दिया जबकि 10 लड़कों को उन्होंने खाली हाथ भेजा था। मैंने ट्राली पकड़ी शर्मा जी ने फर्स्ट फ्लोर स्थित वन विभाग का कुछ सामान थर्ड फ्लोर स्थित सामान्य प्रशासन विभाग में भेजने को कहा। मैं ढलवा मार्ग से ट्राली धकाता हुआ अपने काम पर लग गया। हर फ्लोर चमचमाती हुई साफ सुथरी। हर कमरे में नेम प्लेटें लगीं थी। अवर सचिव, उपसचिव, सचिव, मंत्री, राज्यमंत्री और मुख्यसचिव और मुख्यमंत्री की नेम प्लेटें पढ़ता गया। मन में यह विचार कौंधा क्या कभी किसी दफ्तर में संवेद की नेमप्लेट भी लगेगी? ज्यादातर अफसर और मंत्री ब्राह्मण थे। कुछ गिने-चुने अफसर कायस्थ और अन्य जातियों के थे।

शाम 5 बजे काम खत्म हुआ। सबको मजदूरी मिलने लगी। जब मेरी बारी आई तो 2 रुपए 20 पैसे पाकर इतनी खुशी हुई कि बयान से बाहर हो गई। जब सब मजदूर चले गए तो मैंने शर्मा जी से कहा- "सर! मेरे घर की स्थिति नाजुक है। आप मेहरबानी करके मुझे रोज काम दीजिएगा ताकि मेरा घर एक वक्त की रोटी खा सके।" इतना कहकर मैं पंडितजी के चरणों में झुक गया। पंडित जी ने कहा- "फिक्र मत करो मैं तुम्हें रोज काम दूंगा। तुम तो पढ़े-लिखे लगते हो।

"मॉडल स्कूल में 11वीं में पढ़ रहा हूँ।"

"वेरी गुड। तुम कल फिर आ जाना। मेहनत से काम करो। सचिवालय में जगहें निकलेंगी तो अप्लाय कर देना ईश्वर ने चाहा तो तुम्हें पक्का रोजगार मिल जाएगा।"

दो रुपये बीस पैसे। बस यही मेरी जिंदगी का मकसद रह गया। रोज रात घर पहुँचता ओर मेरे पहुँचने के बाद चूल्हा रोशन होता। एक समय का भोजन। सुबह फिर बिना कुछ खाए-पिए काम पर जाना और शाम को दो रुपए बीस पैसे लेकर लौटना। रविवार को सचिवालय की छुट्टी कर लेता। सरकारी छुट्टियां खूब अखरतीं क्योंकि जब छुट्टी होती तो मुझे हाड़ तोड़ मजदूरी करने के लिए मजबूर होना पड़ता।

हमारे घर से सचिवालय 15 किलोमीटर था। रोज सुबह 8 बजे मैं पैदल-पैदल घर से निकलता और ठीक दस बजे सचिवालय पहुँच जाता। इसी तरह 5 बजे शाम वहाँ से चलता और 7 बजे घर पहुँचता। खाना खाकर रात में पढ़ाई करता। इस तरह परीक्षा पास करता रहा। ट्राली धका-धका कर हाथों में भट्टे पड़ गईं थीं। लेकिन करता भी क्या ट्राली मेरे जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गई थी।

रोज दो घंटे पैदल चलना मेरी नियति बन गई थी। सुबह-सुबह रास्ता साफ होता। मैं रोज जहाँगीराबाद से जेल पहाड़ी होता हुआ सचिवालय पहुँचता था। शाम को इसी रास्ते से लौटता। जहाँगीराबाद में 'शबनम' लायब्रेरी थी। मैंने एक शाम वहाँ से गुलशन नंदा का उपन्यास 'नीलकमल' किराए पर लिया। प्रतिदिन 10 पैसे किराए पर किताब दी जाती थी। सुबह घर से निकला तो उपन्यास पढ़ते हुए मैं सचिवालय पहुँच जाता। पढ़ने की स्पीड बड़ी तो एक दिन में एक उपन्यास पढ़ डालता। स्कूल में वार्षिक उत्सव चल रहे थे। गयाप्रसाद घर आया। उसने बताया कि हिन्दी वाले आचार्य सर ने कल तुम्हें बुलाया है। मैंने अगले दिन सचिवालय जाना स्थगित कर दिया। स्कूल पहुँचा तो आचार्य सर ने कहा- "ऑल स्कूल ऐसे काप्टीशन है तुम इसमें भाग लो। मुझे पूरी उम्मीद है कि प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार तुम्हें ही मिलेगा।"

मैं प्रतियोगिता में बैठा और घर चला आया। दूसरे दिन पुरस्कार वितरण था। गयाप्रसाद आ गया उसके साथ ही मैं स्कूल गया। विद्यालय में आज स्नेह सम्मेलन एवं पुरस्कार वितरण समारोह था। मैं अपनी कक्षा के छात्रों के साथ कतार में बैठ गया। प्रदेश के शिक्षामंत्री आए हुए थे। आचार्य सर छात्रों का नाम माइक पर पुकारते और पुरस्कार का विवरण देते। शिक्षा मंत्री छात्र को पुरस्कार प्रदान करते। इसी कड़ी में अचानक मेरा नाम पुकारा गया।

"संवेद माथुर ऐसे कांप्टीशन में फर्स्ट।"

पहली बार तो मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। मैं अपनी जगह पर बैठा रहा। गया प्रसाद और बलवीर ने मेरे कंधे झिंझोड़कर कहा- "संवेद जाओ पुरस्कार लो।"

आचार्य सर ने दोबारा मेरा नाम एनाउंस किया। इस बार मैं दौड़ता हुआ स्टेज पर गया और अपना पुरस्कार लिया। प्राचार्य, आचार्य सर और मंत्री जी के चरण स्पर्श करके मैंने उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। कुछ पल तो मेरे हाथ-पैर ऐसे कांप रहे थे जेसे किसी ने मुझे बिजली का करंट दे दिया हो।

लौटकर अपने स्थान पर आया। पुरस्कार का पैकेट खोला तो विवेकानंद जी की पुस्तक मिली। समारोह समाप्त हुआ तो साथियों ने ढेरों शुभकामनाएं और बधाइयां दी। घर आया, पिताजी को बताया तो वे गद्‌गद् हो गए। पहली बार

मैंने देखा कि गर्व से उनका मस्तक ऊंचा हुआ। उनकी आंखें सजल हुईं। मैंने माँ-पिताजी से आशीर्वाद लिया। बहुत दिनों बाद घर में उत्सव सा माहौल बना।

कुछ दिनों बाद सचिवालय में नाइट वाचमैन के कुछ पद निकले। मैंने अप्लाय कर दिया। मेरा इंटरव्यू एक अवर सचिव ने लिया था रिजल्ट आया तो मेरी नियुक्ति नाइट वाचमैन के पद पर हो गई। घर में फिर उत्सव मना। ड्यूटी मजेदार थी। आधा किलो वजन का चाबियों का गुच्छा था। चाबी पर हर कमरे का नंबर अंकित था। एक फ्लोर पर एक नाइट वॉचमैन होता था। मैं सेकेण्ड फ्लोर पर था। शाम 5 बजे जाकर केयरटेकर के रूम से अपनी फ्लोर की चाबियां लेता। एक-एक कमरे की खिड़की और दरवाजे लगाता फिर ताले लगा देता। मंत्री के कमरे को मैंने अपना बसेरा बनाया। रात 9 बंजे सभी वॉचमेन सेकण्ड फ्लोर पर आ जाते और साथ बैठकर खाना खाते फिर सब अपनी अपनी फ्लोर पर चले जाते। देर रात तक मंत्री की कुर्सी पर बैठकर पढ़ता फिर सो जाता।

पक्की नौकरी लगने का एक बड़ा और अहम फायदा यह हुआ कि घर पर दोनों समय का भोजन बनने लगा। पूरा दिन मुझे मिल गया अब मैं नियमित कॉलेज जाने लगा था। बस एक कसक सालती रहती कि मैं फोर्थ क्लास में हूँ। रोज अखबार देखता जहाँ भी रिक्तियां होतीं वहाँ अप्लाय कर देता।

एक दिन अचानक अज्जू आया तो मैं उसे भी शाम को अपने साथ सचिवालय ले गया मंत्री के कमरे में हमने खाना खाया गपशप की और सो गए। मंत्री का कमरा भव्य और आलीशान था। खूब बड़े-बड़े सोफे जिन पर मैं आराम से सोता था। बड़ी सेंटर टेबिल जिस पर मैं खाना खाता था। खूब आरामदार मंत्री की कुर्सी जिस पर बैठ कर मैंने बी.ए. पास किया। मंत्री के कमरे में पूरी रात गुजारते हुए मुझे लगता कि मैं रात का मंत्री हूँ। दूसरे नाइट वाचमैन फ्लोर पर ही बिस्तर डालकर सोते थे उनमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि वे मंत्री या अफसर के कमरे में अपना रैन बसेरा करते।

दूसरे दिन अज्जू ने कहा- "यार राजकुमार! एक दफ्तर में क्लर्कों की 50 पोस्ट निकली हैं। मैं अप्लाए करने के इरादे से आया हूँ। चल, अपन अप्लीकेशन देकर आएं।" मैं अज्जू के साथ उस दफ्तर गया। उस अप्लीकेशन में 2 रुपए का पोस्टल आर्डर लगना था। पास में ही डाकघर था। अज्जू ने पोस्टल आर्डर खरीदा फिर यकायक बोला तुम भीं अप्लाए कर दो। अगर दुर्भाग्य से सिलेक्शन हो गया तो हम दोनों एक ही दफ्तर में रहेंगे।"

"मेरे पास तो मार्कशीट की फोटो कॉपी और दो रुपए भी नहीं हैं।"

"कोई फिक्र नहीं। दो रुपए मैं दे दूंगा। मार्कशीट की कॉपी कल जमाकरवा देना। बाबू को पांच का नोट देंगे तो वह मान जाएगा।"

मैंने वहीं एक कागज पर अप्लीकेशन लिखी। एक पोस्टल आर्डर उसमें

नत्थी किया और आवक-जावक बाबू की खिड़की के सामने खड़े हो गए। अज्जू की अप्लीकेशन ले ली गई। अब बारी मेरी थी। अज्जू ने बाबू से कहा- "सर यह चाय पानी के पैसे रखिए और यह अप्लीकेशन ले लीजिए। इसमें मार्कशीट की फोटा कॉपी नहीं है, कल दे जाएंगे। मुझे विश्वास है कि आप हम बेरोजगारों का सहयोग करेंगे।"

कुछ असर अज्जू की बात का और कुछ पांच के नोट का जादू। बाबूजी मान गए। उन्होंने कहा -"कल मार्कशीट की कॉपी याद से जमा करा देना।"

"एस सर।" हम दोनों ने एक साथ कहा। दूसरे दिन हम दोनों गए और मार्कशीट की फोटो कॉपी जमा करा आए।

अज्जू दूसरे दिन अमरही चला गया और मैं फिर से नाइट वॉचमैन शिप में व्यस्त हो गया।

बी.ए. कर चुका था इस दौरान कुछ कविताएं भी लिख डालीं। दोस्तों ने मशविरा दिया कि हिन्दी साहित्य में एम.ए. करो। उबेदिया कॉलेज में एम.ए. प्रीवियस में एडमीशन ले लिया। हमारे बैच में 18 लड़कियां और 6 लड़के थे। सुबह 8 बजे से 11 बजे तक कक्षाएं लगतीं थीं। डॉ. विष्णु विमलेश, डॉ. दिवाकर, डॉ. अलका दुबे हिन्दी विभागाध्यक्ष थीं। इन सब महानुभावों में से अधिकतर शिक्षक मुझे व्यक्तिगत रूप से जानते थे। जब मैं कॉलेज आया तो मेरा नाम उससे पहले एडमीशन लिस्ट के जरिए अध्यापकों तक पहुँच चुका था। डॉ. विमलेश एक किस्म से मेरे दोस्त ही थे। विमलेश का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही विवादास्पद रहे। कई युवतियों और महिलाओं से उनके घनीभूत संपर्क रहे। उनके बारे में ढेर सारी बातें कॉलेज परिसर और खासतौर से हिन्दी विभाग में उछलती रहती थीं। अपनी छात्राओं पर मुग्ध होकर उनसे प्रेम करने लगना उनके लिए बाए हाथ का काम था। एक पत्नी से उनका तलाक हो गया। दूसरी छोड़कर चली गई थी। इस वक्त वे अकेले थे। तीसरी की तलाश में भटक रहे थे। विमलेश से कई काव्य गोष्ठियों में भेंट होती रहती थी लेकिन मुझे पता नहीं उससे एलर्जी थी। गंजा और गंदा। अपने साइज से एक नंबर कम की शर्ट पहनना। पेंट का बार-बार पेट से खिसकना। हर वक्त चार मीनार मुँह में हुक्के की तरह सुलगाए रहना। उसे देखकर आश्चर्य होता कि चुगद से लड़की पट कैसे जाती है। बहुत बाद एक किताब में पढ़ा कि लड़कियां मूर्ख पुरुष को ज्यादा पसंद करती हैं। लेकिन विमलेश मूर्ख नहीं था। बहुत शातिर और काइयां किस्म का धूर्त अध्यापक था। ऐसे लोगों को मेरे खयाल से शिक्षक जैसे पेशे में आना ही नहीं चाहिए था। डॉ. दिवाकर एक दम से आदर्श शिक्षक की परिभाषा में आते थे। उबेदिया कॉलेज में आने से पहले वे मॉडल स्कूल में शिक्षक थे। दिवाकर का व्यक्तित्व ओज और आभा से परिपूर्ण था। गोरा चिट्टा रंग, लंबी नाक, उन्नत

ललाट और मुस्कराती सी आंखें उस पर लंबा कद। वे जो भी पहनते उसमें फबते। दिवाकर उस वक्त डी. लिट् कर रहे थे। दिवाकर अपने छात्र-छात्राओं से मर्यादित आचरण करते और उनका उचित मार्गदर्शन करते।

डॉ. गंगाशरण सांवले रंग के गोलमटोल उस पर सफेद कुर्ता-पायजामा। उनकी पोशाक उनके सांवले रंग को गहरा कर देती। वे कॉलेज के निकट लगी हुई प्रोफेसर कॉलोनी में रहते थे। प्राचीन हिन्दी साहित्य पर उनकी गहरी पकड़ थी। बिहारी और विद्यापति को पढ़ाते वक्त वे भाव विभोर हो जाते थे।

डॉ. गंगाशरण शालीन, सौम्य, शिष्ट और अपने शिष्यों को मित्रवत् मानने वाले थे। पहले दिन जब वे क्लास में आए तो उन्होंने हमें- 'मेरे प्रिय मित्रों' संबोधित किया। मैंने खड़े होकर पूछा "सर! हम आपके मित्र कैसे हुए? आप तो हमारे श्रद्धेय गुरुदेव हैं।"

"आपने महत्वपूर्ण प्रश्न किया। पहली बार मेरे संबोधन पर प्रश्न किया गया। क्या नाम है आपका?"

"संवेद।"

"बिल्कुल नया नाम है। पहली बार सुन रहा हूँ। कृपया बैठ जाइए। हाँ तो आपने पूछा कि मैं आपका मित्र कैसे हुआ? जानिए इस तथ्य को आप प्रीवियस में है और मैंने एम.ए. कर लिया है। दो साल बाद आप भी एम.ए. कर लेंगे। पी.एच.डी. कर लेंगे मुझे तो यू.जी.सी. ने जबर्दस्ती पी.एच.डी. कराई। आप और मैं केवल दो पायदान ऊपर-नीचे हैं। दूसरी बात यह कि मित्रों की क्वालीफिकेशन समान हो यह भी जरूरी नहीं है। तीसरी बात यह है कि इस दुनिया में सिर्फ एक गुरु है और वह है ईश्वर इसके अलावा सभी मित्र हैं, सखा हैं, बंधु हैं, सहोदर हैं।"

डॉ. गंगाशरण के कथन पर छात्र-छात्राओं ने जोरदार तालियां बजाकर उनका स्वागत किया। गंगाशरण जी ने दो साल हमें पढ़ाया उनसे कभी किसी छात्र-छात्रा का विवाद नहीं हुआ।

डॉ. अलका दुबे हमारी विभागाध्यक्षा। सौंदर्य और सौम्यता की प्रतिमूर्ति उनके पति भारत सरकार दिल्ली में उच्च पदस्थ अधिकारी थे। निःसंतान डॉ. दुबे यहाँ अकेली रहती थीं। एक डॉगी उनकी कार में हमेशा बैठा रहता था। डॉ. अलका दुबे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम.ए. पी.एच.डी. थीं। परम और प्रकाण्ड विद्वान डॉ. दुबे का व्यवहार हमारे प्रति वात्सल्य से परिपूर्ण था। रवीन्द्रसिंह और मुझे वे पुत्रवत स्नेह देती थीं। कई बार उनके बंगले जाना हुआ तो उन्होंने बिना खाना खिलाए हमें आने नहीं दिया। बंगले में हम सब उन्हें मम्मी कहते थे और कॉलेज में मैडम।

हम 6 लड़कों का एक ग्रुप बन गया था। ग्रुप का लीडर रवीन्द्र सिंह था।

वह पंचायत विभाग में स्टेनों टायपिस्ट था और शौकिया तौर पर हिन्दी में एम.ए. कर रहा था। पूरी तरह से मस्तमौला लेकिन तीक्ष्ण और पैनी समझ का स्वामी। हमारे ग्रुप में ललितपुर से आया तेजभान हैंडसम था। पूरे ग्रुप का हीरो। अजय तिवारी, वीरेन्द्र मिश्र और दयालसिंह सामान्य किस्म के छात्र थे।

अनुकंपा, बहार और विमला लड़कियों में सबसे तेज और बुद्धिमति थीं। मेरा झुकाव शुरू से अनुकंपा की ओर रहा। कुछ-कुछ आशा जैसी अनुकंपा के पिता शहर के जाने-माने सर्जन डॉ. कुमार थे। बहार पर रवीन्द्र सिंह की नजरें थीं और विमला और वीरेन्द्र ने अपनी जोड़ी जमा ली थीं। बची हुई लड़कियां बहनजी टाइप थीं। उनसे ज्यादा सरोकार हम लोग नहीं रखते थे। हाय! हलो तक ही सीमित थे। तेजमान को केवल पढ़ाई से मतलब था लेकिन बहन जी टाइप लड़कियां उसे भैया कहकर पुकारती थी और वह भी उन्हें बहनजी कहकर पुकारता था।

डॉ. विमलेश आधुनिक साहित्य पढ़ाते थे। क्लासरूम में पढ़ाते-पढ़ाते सिगरेट सुलगा लेते और पीते जाते। उन दिनों मैं भी सिगरेट पीने लगा था। जब विमलेश सिगरेट सुलगाते तो मुझे भी तलब महसूस होती। एक दिन मैंने उनसे सिगरेट माँग ली। मैं और विमलेश दोनों ही अक्सर क्लास रूम में सिगरेट पीते। कुछ बहनजी किस्म की लड़कियों ने एतराज किया तो मैंने साफ-साफ कह दिया कि जिन्हें सिगरेट का धुआं पसंद न हो, वे क्लास रूम से बाहर चली जाएं। पता नहीं शुरू से नेतृत्व और दादागिरी करने की आदत मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा बन चुकी थी। अपनी गलत बात पर भी अकड़ जाना और धौंसदपट कर डालना मेरी बहुत गंभीर कमजोरी रही है।

अनुकंपा पढ़ाई में होशियार थी। हमारे ग्रुप की नायिका थी। हम लोग रोज शाम कहीं न कहीं घूमने जाने का प्रोग्राम बनाते। बड़ी झील में हमने कई बार नौका विहार भी किया। नाव में झील के बीचों-बीच रोककर हमने कविताएं भी लिखीं। मैं अनुकंपा के प्रति दिन-ब-दिन संवेदनशील होता जा रहा था। कविता परवान चढ़ रही थी और स्थानीय समाचार पत्रों में धड़ाधड़ छप भी रही थीं। 'सरिता' में एक प्रेम गीत छपा। मैं उसकी चार-पांच प्रतियां खरीद लाया। एक मैंने अनुकंपा को उपहार में दी। अनुकंपा ने कविता को सराहा साथ ही मेरा उत्साहवर्धन भी किया। कॉलेज में मैंने भूलकर भी इस बात की जानकारी नहीं दी कि मैं सचिवालय में फोर्थ क्लास एम्पलॉय हूँ। सभी मुझे स्टूडेंट समझते थे। मेरी उम्र भी स्टूडेंट जैसी थी।

रवीन्द्रसिंह शादीशुदा था। जब वह 12वीं में पढ़ता था तभी उसकी शादी हो गई थी। दो बच्चे भी उसके थे। यह राज केवल मुझे मालूम था। उसने मुझे बताया नहीं था यह मेरी खोज थी। हुआ यह कि एक दिन मैं रवीन्द्रसिंह के घर

गया वह कहीं गया हुआ था। उसके पिताश्री से भेंट हो गई उन्होंने मुझे बिठा लिया फिर बातचीत का सिलसिला शुरू हो गया। चायपान के साथ ही रवीन्द्र की शादी का जिक्र निकला तो उन्होंने बताया कि उसकी शादी तो 10 साल पहले हो गई। मुझे रवीन्द्र सिंह पर बहुत गुस्सा आया कि उसने यह राज मुझसे क्यों छुपाया? जब उससे मिलना हुआ तो मैंने मजाक में कहा- "कल तो भाभी के हाथों की बनी मीठी चाय पीकर आया तुम तो मिले नहीं।"

रवीन्द्रसिंह मुस्करा कर बोला- "मेरी पोल खुल गई लेकिन यार यह बात कॉलेज में किसी को मत बताना अन्यथा बहार तथा अन्य लड़कियां बिदक जाएंगी।" मैंने भी इसे राज ही रहने दिया। इस घटना के बाद रवीन्द्र सिंह मेरा और गहरा मित्र बन गया था।

हम लड़कों ने तया किया कि हम सबको फर्स्ट डिवीजन लाना है इसके लिए अध्ययन की रूपरेखा तैयार की। तय हुआ कि एक-एक दिन एक लड़के के यहाँ जाकर सामूहिक अध्ययन किया जाएगा। जिस लड़के के यहाँ सामूहिक पढ़ाई की जाएगी उसके घर ही सबका सहभोज होगा। लॉटरी डाली गई। पहला नंबर रवीन्द्रसिंह का आया। वह घबरा गया। लड़के पहुँचेंगे तो उसकी शादी की पोल खुल जाएगी। उसने अपनी माँ की बीमारी का बहाना बनाया और उसके घर की एवज में मेरे यहाँ सामूहिक पढ़ाई और सामूहिक भोज हुआ। माँ ने मूली के कोफते और अरबी की शुष्क सब्जी बनाई। सबने मन-तन भरकर भोजन किया और माँ की पाक कला की भरपूर प्रशंसा की। हमारा अध्ययन का नियम था कि पूरी रात पढ़ेंगे और दिन में सोएंगे। मैंने सचिवालय से 20 दिन का अर्जित अवकाश ले रखा था। परीक्षाएं करीब थीं। हमारी पढ़ाई जोरो पर थी। कॉलेज की पूरी लायब्रेरी हमने छान मारी। खूब तर्क-वितर्क करतें। बिहारी हम सबके प्रिय कवि थे। घोर श्रृंगार में डूबे उनके दोहे उस समय हमें कंठस्थ थे। जयशंकर प्रसाद रचित खण्ड काव्य 'आंसू' हम लोगों को लगभग पूरा जुबानी याद था। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' पर हम सब फिदा थे।

परीक्षाएं शुरु हुईं पेपर अच्छे गए। हमने धुआंधार सप्लीमेंट्री कॉपी भरी। पद्य की व्याख्या और गद्य का हमारा अपना मौलिक चिंतन था। मैंने डॉ. रामचंद्र शुक्ल और अन्य विद्वानों को आवश्यकता अनुरूप कोट किया। परीक्षक को प्रभावित करने का इससे बेहतर मुझे कोई तरीका नहीं लगा। रिजल्ट आया तो वह मेरी उम्मीद के हिसाब से ऊपर का था। मुझे पूरे कॉलेज में सर्वाधिक मार्क्स मिले थे। हम सब एक-एक छात्र-छात्रा के घर गए उन्हें वहाँ से लिया और दूसरे के घर पहुँचे। जब हम सब इकट्ठे हो गए तो रवीन्द्र सिंह ने प्लान बनाया कि हम सभी प्रो. विमलेश के यहाँ चलकर उनका जन्मदिन मनाएंगे। बहार ने कहा- "उनका जन्मदिन तो आज नहीं है।" "उससे क्या? जिस दिन हम मनाना चाहें

हम मनाएंगे। इसमें प्रो. भी कुछ नहीं कर सकते। तुमने वह गीत तो सुना ही होगा "सावन आए या न आए जिया जब झूमे सावन है।"

सब लोग खिलखिला उठे। हमने रास्ते में एक बुके खरीदा और अनुकंपा के हाथों में दे दिया साथ ही हिदायत दी कि "प्रो. विमलेश को सबसे पहले तुम ही विश करोगी क्योंकि प्रो. तुम्हें सबसे ज्यादा लाइक करता है।"

हम प्रो. विमलेश के घर पहुँचे। प्रो. कुछ खतो-किताबत में मशगूल थे। हमारी टोली के आगमन से विस्मित हुए- "आज आप सब एक साथ मेरे गरीब खाने पर कैसे?"

"सर! हैप्पी बर्थ डे टू यू।" कहकर अनुकंपा ने बुके प्रो. को पकड़ा दिया। प्रो. हतप्रभ। "अरे! आपसे किस उल्लू के पट्ठे ने कह दिया कि आज मेरा जन्मदिन है?"

"सर! हमें पता नहीं कि आप कब इस धरती पर अवतरित हुए लेकिन हम तो बस इतना जानते हैं कि आज हमारा मन चाहा कि आपका जन्मदिन आपके घर पर ही मनाया जाए। सर! हम सबकी ओर से आपको ढेरों बधाइयां"

रवीन्द्रसिंह के जवाब से प्रो. निरूत्तर हो गए। फिर रवीन्द्रसिंह ने प्रो. से 200 रुपए झटके। बाजार से मिठाई, समोसे, लाए गए। सबने गाना-बजाना किया। मैंने और प्रो. ने अपनी कुछ कविताएं भी सुनाईं। कविताओं पर सुधि श्रोताओं ने मजेदार टिप्पणियां कीं। कुल मिलाकर मजेदार पार्टी रही। मैटिनी शो का टाइम हो रहा था हम सब प्रो. को धन्यवाद देकर तथा यह बताकर कि "हम भोपाल टॉकीज में लगी फिल्म 'उधार का सिंदूर' देखने जा रहे हैं, यदि आप भी चलना चाहें तो आपका स्वागत है। शर्त यही है कि सबके टिकट आपको लेने होंगे। प्रो. ने नाटकीय मुद्रा में हाथ जोड़कर कहा- "मुझे माफ कीजिए। आप जाइए।"

हम लोग सिटी बस पर सवार होकर भोपाल टॉकीज पहुँचे रवीन्द्र सिंह और मैंने सबके बॉलकनी के टिकट खरीदे। बैठने की रणनीति रवीन्द्र ने तय की। एक रौ में पहले अनुकंपा फिर मैं इसके बाद रवीन्द्र सिंह फिर बहार फिर विमला और वीरेन्द्र इसके बाद जो बचे वे जहाँ बैठना चाहें। सामूहिक रूप से हम लोगों का यह फिल्म देखने का पहला अनुभव था। पूरे समय मेरे हाथ में अनुकंपा का हाथ रहा। बहार के कंधे पर रवीन्द्र का कब्जा था विमला और वीरेन्द्र किस पोजीशन में बैठे थे इसकी हमें चिंता नहीं थी।

इंटरवल में लाइट ऑन हुई तो देखा पीछे की सीट पर प्रो. विमलेश बैठे हुए हैं। हम सब हैरत में कि प्रो. यहाँ भी आ गए। सब मिलकर प्रो. की कुर्सी पर गए और इंटरवल में चाय-पानी के पैसे माँगने लगे। प्रो. ने अपनी जान

छुड़ाने की गरज से सौ का नोट रवीन्द्र के हवाले कर दिया। टॉकीज की कैंटीन से हम नाश्ते का भरपूर सामान ले आए। प्रो. को छोड़कर सबको वितरित किया। बहनजी टाइप लड़कियों ने खुसर-पुसर की- "अरे! प्रो. साहब को भी तो कुछ दो आखिर रुपए तो उनके ही हैं।"

"प्रो. पर तुम्हें इतना प्यार आ रहा है तो अपने हिस्से की पेटिस या पेस्ट्री दे दो। हमारे पास तो सिर्फ दुआए देने के अलावा और कुछ बचा ही नहीं।" रवीन्द्र सिंह के सटीक उत्तर ने बहनजियों को चुप करा दिया। फिल्म खत्म हुई। हम सब बाहर आ गए। हममें से अधिकांश को पता ही नहीं था कि फिल्म की कहानी कैसी थी? किसी ने गंभीरता से फिल्म देंखी ही कहाँ थी। सब एक-दूसरे का साथ चाहने के लिए ढाई घंटे टॉकीज में बैठे रहे थे।

गर्मियों की छुट्टी में हम और रवीन्द्र कभी अनुकंपा तो कभी बहार के घर चले जाते। खूब गपशप करते, खाते-पीते और फिर लौट आते।

यह फायनल ईयर था और हम सब अपनी-अपनी पढ़ाई को लेकर पहले से भी अधिक गंभीर थे। हर प्रो. से एक दिन पहले ही पूछ लेते कि- "कल वे क्या पढ़ाएंगे?" जब प्रो. बता देते तो हम नोट कर लेते और कॉलेज से छूटकर सब एक जगह इकट्ठे होकर दूसरे दिन की तैयारी करते। हम तैयारी करते संदर्भ के भंडार से भरपूर होकर प्रोफेसरों से सवाल करते अब प्रो. क्लास में आने से कतराने लगे। प्रश्न और प्रतिप्रश्न की हम झड़ी लगा देते। कुछ प्रो. सही जवाब दे पाते कुछ अधिकांश प्रो. गोलमोल जवाब देते। हिन्दी विभाग का छात्र प्रतिनिधि भारी बहुमत से मुझे चुना गया। मेरे विरूद्ध अजय तिवारी खड़ा हुआ था उसे केवल दो वोट मिले। हिन्दी विभाग की पत्रिका 'सुरभि' का संपादक भी मुझे ही डॉ. अलका दुबे ने मनोनीत किया। क्लास क्या कॉलेज में मेरा जलवा था। रवीन्द्र सिंह मेरे बाडी गार्ड का काम कर रहा था। हिन्दी विभाग के छात्र प्रतिनिधि के चुनाव की रोचक दास्तान है। अजय तिवारी धनी पिता का पुत्र था। चुनाव के ऐन एक दिन पहले उसने पूरी क्लास को भोज पर बुलाया। मैं भी शामिल था। उसने भोज के बाद सबको एक पर्चा बांटा जिसमें उसे विजयी बनाने की अपील थी। मुँहफट रवीन्द्र ने वहीं सबके सामने बोल दिया "नमक खिलाकर नमक की कीमत हमसे चाहते हो। हमें पता होता कि तुम लंच इस उद्देश्य से दे रहे हो तो हम लोग कतई नहीं आते।"

"रवीन्द्र सिंह तुम गलत समझ रहे हो। मेरा यह उद्देश्य नहीं था फिर भी यदि आप सबको मेरा यह व्यवहार ठीक न लगा हो तो मैं आप सबसे क्षमा माँगता हूँ।" "देखो भाई। क्षमा माँगों या न माँगो यह तुम्हारे ऊपर है। बस वोट मत माँगों, हम सब पहले ही तय कर चुके हैं कि संवेद को ही जिताएंगे। चुनाव

तो कल है लेकिन हम आज ही संवेद को विजयी घोषित करते हैं।" रवीन्द्र के उक्त कथन पर तालियां बजीं और सब अजय के घर से विदा लेकर आ गए।

कविताएं लगातार लिखी जा रही थीं। रवीन्द्र ने संग्रह प्रकाशित करने की सलाह दी। कविता चयन की जिम्मेदारी अनुकंपा को दी गई। कविता की गहरी समझ उसमें थी इसे मैं कई बार अनुभव कर चुका था। रवीन्द्र की हैंड रायटिंग अच्छी थी। वह स्टेनों भी था अतः पांडुलिपि तैयार करने का जिम्मा स्वयं रवीन्द्र ने ले लिया। पंद्रह दिन के भीतर पांडुलिपि तैयार हो गई। अब प्रकाशक की खोज हुई तो अजय शंकर जी ने किताब छापने की हामी भर ली। कविता संग्रह का शीर्षक रखा गया - "लयभंग" पुस्तक छपकर आई तो मेरे घर पर जश्न का माहौल बन गया। कबर खूबसूरत था। चटख रंग के रेखांकन पुस्तक को उठाने के लिए विवश कर रहे थे। यह पुस्तक मैंने अनुकंपा को समर्पित की लेकिन उसका नाम मैंने बदलकर "सुधा" कर दिया। मैं अनुकंपा को शुरू से ही सुधा कहकर संबोधित करता आया था। पुस्तक की तमाम कविताएं 'धर्मयुग' 'साप्ताहिक हिदुस्तान' 'रविवार' आदि पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी। शीर्षक कविता 'लय भंग' 'रविवार' में छपी थी। लंबी छंद मुक्त कविता थी। अपने सभी अध्यापकों एक विभागाध्यक्षों को पुस्तक भेंट की। सभी ने मुक्त कंठ से कविताओं की सराहना की। स्थानीय समाचार पत्रों के रविवारीय संस्करणों में लगातार पुस्तक समीक्षा आ रही थी। एक तरह से मैं नायक की मुद्रा में आ गया था। अनुकंपा ने कविता लिखने के लिए एक सुंदर डायरी और एक खूबसूरत पेन भेंट किया। वह काफी खुश थी। इस खुशी में उसने 'ताप्ती' में डिनर रखा था। इस डिनर में हम दोनों ही थे। अनुकंपा ने कहा- "संवेद! तुम खूब कविताएं लिखो। तुम्हारे लेखन में नैसर्गिक तत्व हैं। भोगा हुआ यथार्थ है। तुम सत्य को तराशकर रखते हो जो सबको हांट करता है। तुम्हारे कविता -संसार में पारदर्शिता और खुलापन है। कोई छदम् आवरण या भूल भुलावा नहीं है। 'लयभंग की सारी कविताएं सार्थक इसलिए नहीं कि इनका चयन मैंने लिया है, हकीकत यह है कि तुम्हारी कविताओं में अनुभवों का पूरा समुद्र ठाठे मार रहा है। मैंने तुम्हारी पुस्तक की समीक्षा लिखी है। तुम चाहो तो इसे कहीं प्रकाशित करा देना। मेरी निगाह आलोचक की है।" अनुकंपा जब भी बोलती है उसका शब्द चयन काबिल-ए-तारीफ होता है। मुझे ऐसा भी लगता है कि वह लिखना शुरू करे तो मुझसे बेहतर लिख सकती है।

उसने 'ताप्ती' में स्पष्ट किया कि वह मुझसे अपनापन रखती है लेकिन वह शादी अपने पेरेंट्स की पसंद से करेगी। अनुकंपा की इस स्पष्टवादिता ने मुझे और गहरे तक प्रभावित किया। यूं भी मुझे शुरू से दो टूक जवाब देने वाले

लोग पसंद रहे हैं। मेरे दायरे में जो लोग आए वे सब पारदर्शी और स्पष्ट सोच वाले रहे हैं। अनुकंपा ने पहले ही बताकर अच्छा किया। मैं भी तो माँ की पसंद की लड़की से ही विवाह करना चाहता हूँ। 'ताप्ती' का डिनर हमारी खुशियों में इजाफा करने का माध्यम बना। जब हम विदा हुए तो पुलकित थे।

कॉलेज में हमारे बैच की धूम थी। डॉ. दिवाकर को डी. लिट् अवार्ड हो गई थी, हम लोगों ने इस मौके पर उन्हें सम्मानित करने का निर्णय लिया। पूरी टीम ने अपना-अपना काम बांट लिया। कॉलेज के सभागार में डॉ. दिवाकर को श्रीफल, शॉल और सम्मान पत्र विभागाध्यक्ष डॉ. अलका दुबे ने दिया। कार्यक्रम का संचालन मैंने किया। समारोह के बाद कॉलेज कैंटीन में लंच रखा गया। डॉ. दिवाकर इस कार्यक्रम के बाद मेरे और करीब आ गए थे। फायनल में डिजर्टेशन करना था। मैंने डॉ. दिवाकर के अंडर में ही डिजर्टेशन करने का मन बना लिया। डॉ. दिवाकर चाहते थे कि मैं हरिशंकर व्यास की कविताओं के मानवीय पक्ष को लेकर डिजर्टेशन करूं लेकिन मैं उर्दू ग़ज़ल और हिन्दी ग़ज़ल के रचना विधान का तुलनात्मक अध्ययन करने के मूड में था। गज़ल पर लघु शोध प्रबंध लिखने की एक वजह यह भी थी कि मेरा ग़ज़ल संग्रह प्रकाशनाधीन भी था। दूसरी बात स्व. दुष्यंत कुमार जब जीवित थे तब उनसे मित्रता हो गई थी और साथ बैठकर कई गजले लिखी थी। दुष्यंत कुमार अपनी गजलों के कारण ही साहित्य का चर्चित केन्द्र जीते जी ही बन गए थे। दुष्यंत कुमार को मेरी एक छोटी बहर की ग़ज़ल बेहद पसंद थी। वे बार-बार उसे सुनते थे। मेरे लिए यह फक्र की बात थी कि इतनी महान हस्ती इस नाचीज को मान्यता दे रही है।

जब मैंने ग़ज़ल पर काम करने की जिद ठान ली तो डॉ. दिवाकर ने स्पष्ट कर दिया "इस काम में मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकता क्योंकि एक तो मुझे उर्दू नहीं आती दूसरी बात हिन्दी ग़ज़ल में मेरी कोई दिलचस्पी भी नहीं है।"

मैं आखिरकार प्रो. फजल ताविश की शरण में पहुँच गया। रोज शाम दो-चार घंटे उनके घर पर गुजारता। उर्दू ग़ज़ल का इतिहास और उसके संदर्भ प्रो. फजल नोट कराते। आज फजल साहब इस दुनिया में नहीं हैं लेकिन मैं यह नहीं भूल सकता कि उन्होंने मेरे लिए कितनी मेहनत की। फ़ज़ल साहब के घर रोज दावत होती कभी कुछ टेबिल पर होता कभी कुछ। हर दिन एक नई डिश और चाय का यह आलम कि रोज तीन-चार बार तो हो ही जाती।

लघुशोध प्रबंध लेखन की व्यस्तता के कारण एक दिन कॉलेज नहीं जा पाया। उसी दिन सारे छात्र मेरे घर आ धमके। मामला प्रो. दिवाकर का था। हुआ यह कि डॉ. दिवाकर 'कामायनी' पढ़ा रहे थे। तेजभान ने डॉ. को टोकते हुए कहा- "सर आप गलत पढ़ा रहे है। इस छंद की व्याख्या गलत कर रहे है।" तेजभान का इतना कहना था कि डॉ. दिवाकर अपना संयम खो बैठे और

तेजभान को अपमानित करते हुए क्लास से बाहर कर दिया। तेजभान रोता हुआ क्लास से बाहर निकला तो पूरी क्लास उसके पीछे हो गई और ये लोग अब मेरे पास आए थे। मुझे डॉ. दिवाकर का यह रवैया नागवार लगा। एम.ए. फायनल की क्लास है। कोई नर्सरी की नहीं कि बच्चे को कान पकड़कर क्लास से बाहर कर दिया जाए। कॉलेज का समय समाप्त हो गया था इसलिए हम डायरेक्ट मैडम के बंगले पहुँचे। मैडम दुबे हम सबको एक साथ आया देखकर प्रसन्न और तनिक विस्मित भी हुईं। मैंने मैडम को पूरा वृतांत बताया। तेजभान फिर सिसकने लगा। मैडम को भी डॉ. दिवाकर का सुलूक अच्छा नहीं लगा। मैडम ने कल मीटिंग बुलाने का आश्वासन देकर हमें जलपान कराया। अब हम आश्वस्त हो गए कि मैडम तेजभान को न्याय अवश्य दिलवाएंगी।

दूसरे दिन नौ बजे मैडम के कमरे में मीटिंग हुई। मैंने पूरी रूपरेखा प्रस्तुत की। डॉ. दिवाकर चुप बैठे रहे। मैडम अपनी जगह से उठकर खड़ी हुई फिर उन्होंने डॉ. दिवाकर को संबोधित करते हुए कहा- डॉ. दिवाकर आपकी छवि एक मर्यादित और संयमित आचरण वाले अध्यापक की रही है। मुझे समझ नहीं आता कि आपने तेजभान के साथ इस तरह का व्यवहार क्यों किया? मैं चाहूँगी कि आप स्वयं कल वाली घटना पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत करें।"

डॉ. दिवाकर अपनी सीट से उठे और बोले- "आदरणीया दुबे मैडम और प्रिय छात्रों कल की घटना के बारे में मुझे स्वयं यह अनुभव हुआ कि जो कुछ हुआ उसमें मेरी गलती अधिक है। मुझे इतना उत्तेजित नहीं होना चाहिए था। बात दरअसल यह भी है कि मुझे पढ़ाते-पढ़ाते 19 साल हो गए इस दौरान किसी भी छात्र ने इस तरह का प्रश्न नहीं खड़ा किया खासतौर से यह कि "आप गलत व्याख्या कर रहे है?" चूंकि इस तरह का मेरे समक्ष आया हुआ यह पहला प्रश्न था अतः इस तरह के प्रश्न का मुझे उत्तर देने का कोई पूर्व अभ्यास या अनुभव नहीं था इसलिए मैं यकायक उत्तेजित हो गया। अंततः मैं भी मनुष्य हूँ। एक छात्र जब मुझे चुनौती दे रहा है और वह भी इस बात को लेकर कि मैं गलत पढ़ा रहा हूँ यह आरोप मेरे लिए असहनीय था। इस तरह का क्रोध भी अपने पूरे अध्यापन काल में पहली बार आया होगा। घर जाकर मुझे एहसास हो गया कि तेजभान से अधिक गलती मेरी थी। मुझे तेजभान को गेटआउट नहीं कहना था। तेजभान मेरे पुत्र की उम्र से भी कम है इसलिए मैं उससे कहता हूँ कि क्या तुम्हारे पिता तुम्हें बिना बात डांट देते तो क्या तुम उनसे भी बुरा मान जाते। रूठ जाते। इसके बाद भी यदि मेरे व्यवहार से तेजभान का हृदय आहत हुआ है तो मैं अपने व्यवहार की सार्वजनिक रूप से क्षमा चाहता हूँ। डॉ. दिवाकर का वक्तव्य सुनने के बाद मीटिंग खत्म हो गई लेकिन डॉ. दिवाकर का रवैया मेरे प्रति अंदरूनी

तौर पर द्वैषपूर्ण हो गया। डॉ. दिवाकर को पता था कि संवेद के अलावा और किसी की हिम्मत नहीं थी कि मैडम के पास जाकर मेरी शिकायत करे। मैं डॉ. दिवाकर के चेहरे से यह अंदाजा लगा चुका था कि जब भी मौका मिलेगा डॉ. दिवाकर मुझसे हिसाब चुकता करने से नहीं चूकेंगे।

और आगे चलकर हुआ भी यही। मेरा लघुशोध प्रबंध पूरा हो गया था। मैं सहयोगी गाइड के रूप में डॉ. फजल ताविश का नाम डालना चाहता था। इसे लेकर डॉ. दिवाकर का रूख कड़ा था उन्होंने स्पष्ट कहा- "डॉ. फजल उर्दू विभाग के हैं और आपका शोध हिन्दी साहित्य विभाग का है। उनका नाम जाने का लोग यह निहितार्थ लगा सकते हैं कि डॉ. दिवाकर को ग़ज़ल के बारे में कुछ भी नहीं मालूम। मैं आपका गाइड हूँ जैसा मैं कह रहा हूँ, आप वैसा ही करिए।"

मेरे पास 'यस सर' कहने के अलावा कोई चारा नहीं था क्योंकि लघु शोध प्रबंध के नंबर तो डॉ. दिवाकर को ही देने थे। रिजल्ट आया तो साफ पता लगा कि डॉ. दिवाकर ने सूद समेत अपना उधार चुकता कर लिया है। सबसे कम नंबर मुझे लघु शोध प्रबंध में ही मिले। दिवाकर ने मेरे परसेंटेज 64 तक सीमित कर दिए अन्यथा पिछले साल की तरह फायनल में भी सबसे बड़ा स्कोरर रहता। उस दिन मुझे पता चला कि ऊपर से हैंडसम, सौम्य, शालीन दिखने वाला डॉ. दिवाकर कितना जहरीला नाग है।

हिन्दी में फर्स्ट डिवीजन आने का अपना सुख था। हृदय में कहीं गहरे यह आकांक्षा कुलबुला रही थी कि कॉलेज में सहायक प्राध्यापक बना जाए। उस समय एडहॉक पर रखा जाता था और मैं अपनी पक्की नौकरी छोड़कर यह रिस्क नहीं लेना चाहता था।

अज्जू और हमने दो साल पहले जिस विभाग में अप्लाय किया था उसका इंटरव्यू कॉल आ गया था। अज्जू ने पता हमारे घर का दिया था अतः उसे सूचित किया कि इंटरव्यू देने आ जाओ। नियत तारीख को अज्जू आ गया हम इंटरव्यू देने गए। रिटन इन्टरव्यू था। देकर आ गए। अज्जू भी उसी दिन लौट गया। 15 दिन बाद फिर लेटर आया कि अब रुबरू इंटरव्यू होगा। अज्जू का कॉल नहीं आया शायद वह रिटन में न निकल पाया हो। मैं इंटरव्यू दे आया। इंटरव्यू अच्छा रहा मुझे उम्मीद थी कि मेरा चयन हो जाएगा। इंटरव्यू के बाद अपाइमेंट लेटर का इंतजार कुछ दिन किया जब कोई खबर नहीं आई तो सब भूल कर अपने काम में लग गया। इन दिनों लेखन का भूत जबर्दस्त तरीके से मुझ पर तारी था। रोज लिखना और रोज किसी न किसी पत्र-पत्रिका को पोस्ट करना मेरी दिनचर्या का एक अनिवार्य हिस्सा बन गया था।

इंटरव्यू देने के छः महीने बाद अचानक अपाइमेंट लेटर आ गया। मुझे 15 दिन के भीतर ज्वाइन करना था। इस देवदूत की तरह आए अपाइमेंट लेटर

ने मुझे इस फोर्थ क्लास एम्पलाय की हीन ग्रंथि से बाहर निकाल लिया। एक महीने तो दोनों नौकरियां करता रहा। सचिवालय से रिजाइन किया और नए दफ्तर में आ गया। घर में फिर से उत्सवी माहौल पैदा हुआ। माँ अब मेरे विवाह के लिए प्रयत्नशील हो गईं। मेरे पास भी अब विवाह टालने का कोई बहाना नहीं था। एम.ए. हो चुका था। नौकरी लग चुकी थी। पहले ग्वालियर से बात चली लेकिन बात चलते-चलते टूट गई। कुछ और लड़कियों को देखा गया आखिरकार कानपुर वाली लड़की माँ को ठीक लगी और जनवरी 19 को मेरी शादी हो गई।

माँ खुश थीं उनकी पसंद की बहू आई थी। माँ-पिताजी कुछ समय साथ रहे फिर बड़े भाई के पास चले गए। वे आते-जाते रहते। माँ दमा की रोगी थीं अक्सर बीमार रहतीं। काफी समय तक वे हमीदिया में भर्ती रहीं। तबीयत में आंशिक सुधार होता और कुछ दिन बात तबीयत फिर बिगड़ जाती। इस बार अस्पताल से अच्छी-भली लौटी थीं लेकिन चार दिन बाद भी वे चल बसीं। माँ की मृत्यु पर मैं बिलख-बिलखकर रोया था। एक घना छायादार पेड़ मुझसे दूर हो गया था।

मृत्यु ही अंतिम सत्य है और इसे सहज स्वीकारने में हमें शायद कई युग लगेंगे।

माँ के जाने के बाद पिताजी काफी टूट चुके थे। अकेले हो गए थे। अब उनका पूरा समय सत्संग और धर्म चर्चा में बीतता। ठीक एक साल बाद अचानक पिताजी भी चले गए और मैं बिल्कुल अकेला हो गया।

बाबूगीरी रास नहीं आई इसलिए उसे छोड़कर शिक्षक बन गया। राजधानी के प्रतिष्ठित स्कूल का शिक्षक बनकर मैं अभिभूत हो उठा। मुझे शुरू में ही नाइंथ, टेंथ ओर इलेविंथ क्लासें मिलीं। मैं उच्च और सामान्य हिन्दी पढ़ाता। छात्र मुझे आदर देते और मैं उन्हें स्नेह।

नई-नई गृहस्थी थी इसे जमाने के लिए मुझे अतिरिक्त आर्थिक सहायता की जरूरत थी। मैंने नियमित लिखना शुरू कर दिया। कविता में ज्यादा पैसा नहीं था इसलिए मैंने व्यंग्य लिखना शुरू किया। मुझे याद आता है कि 1980 में नई दुनिया ने अपने संपादकीय पृष्ठ पर 'अद्यबीच' शीर्षक से व्यंग्य स्तंभ शुरू किया। मैंने एक व्यंग्य लिखकर भेज दिया। इसे संयोग ही कहेंगे कि वह छप गया। लगातार 'नई दुनिया' में छपता रहा। अन्य समाचार पत्रों में भी व्यंग्य भेजने शुरू किए। 'धर्मयुग' में भी व्यंग्य छपने लगे थे। उस समय 'धर्मयुग' का बड़ा नाम और प्रतिष्ठा थी उसमें छपना अपने आप में एक कीर्तिमान हुआ करता था। मेरा यह सौभाग्य रहा कि मैं बहुत कम उम्र में ही 'धर्मयुग' में छपने लगा था। मुझे 1000 से 1500 रुपए लेखन से पारिश्रमिक के तौर पर मिलने लगा था। घर की आर्थिक स्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी थी।

उसी समय एक साप्ताहिक 'आज की खबर' में संपादक की जगह निकली थी। मेरे मित्र सीताराम उस पद को पाने के इच्छुक थे। वे मेरे पास आए और कहने लगे- "आप मेरे साथ अखबार के दफ्तर चलो। मालिक से बात कर लेंगे।" मैं सीताराम की बात नहीं टाल सका और उनके साथ चल दिया। अखबार के दफ्तर पहुँचे तो पता चला कि उसके मालिक मेरे पूर्व परिचित निकले। मैंने उनसे कहा- "आपने संपादक की पोस्ट निकाली है। सीताराम जी इस पद के इच्छुक है। आप उचित समझें तो यह दायित्व इन्हें सौंप दें। मेरे विचार से सीताराम जी सर्वथा इस पद के लिए योग्य व्यक्ति है।"

"आप खुद क्यों यह नौकरी नहीं कर लेते?" अग्रवाल साहब ने मेरे समक्ष एक प्रश्न रख दिया इसके लिए मैं कतई तैयार नहीं था। मैंने कहा- "मुझे अखबार की नौकरी पसंद नहीं। मैं तो सीताराम जी के कारण यहाँ आ गया था। मेरा पूरा ध्यान लेखन में है और लिखने से मुझे आनंद प्राप्त होता है।" "यहाँ भी तो लिखने का ही काम है आप ऐसा कीजिए कि एक महीने यहाँ काम करके देख लीजिए यदि आपका मन लग जाए तो कीजिए अन्यथा छोड़ दीजिए।" अग्रवाल साहब की बात मुझे काफी दमदार लगी। मैंने 'हाँ' कर दी। मेरा समय दोपहर 2 बजे से रात 8 बजे तय हुआ। दूसरे दिन मैं ठीक 2 बजे दफ्तर पहुँच गया।

अग्रवाल साहब से मिला। वे प्रसन्नचित दिख रहे थे। वे मुझे मेरे कमरे तक ले गए। मेरी टेबिल पर डाक और राजधानी के विभिन्न अंचलों से संवाददाताओं द्वारा भेजी गई रपटें और समाचार रखे थे। साप्ताहिक 'आज की खबर' का प्रवेशांक रख था। दूसरे अंक का काफी मेटर तेयार था। अग्रवाल साहब मुझे सब समझाकर चले गए। मैं अपने काम में जुट गया। मैं 'नईदुनिया' के सारे पत्र पढ़ा करता था इसलिए मुझे यह समझ आ गई थी कि संपादक के नाम किस तरह के पत्र प्रकाशित किए जाना चाहिए? मैंने भी ढेर सारे पत्र 'नईदुनिया' को भेजे थे, जो समय-समय पर प्रकाशित हुए थे और उन पत्रों पर अन्य पाठकों के प्रतिक्रियात्मक पत्र भी बाद में छपे थे। उन सबकी कतरनें मैंने एक रजिस्टर पर चिपकाकर रख लीं थीं।

मैंने डाक से आए सारे पत्रों को पढ़ डाला ज्यादातर पत्र प्रवेशांक की बधाई और शुभकामना के पत्र थे। कुछ पाठकों ने प्रवेशांक की खबरों, लेखों और संपादकीय पृष्ठ की सामग्री के बारे में पत्र लिखे थे।

मेरा लेखन अनुभव तो संपन्न था लेकिन संपादन की कला में शून्य था। कभी सोचा ही नहीं था कि यह संपादन का काम करना पड़ेगा। स्थानीय दैनिकों में कार्यरत अधिकांश संपादक, उपसंपादक, संवाददाता मेरे परिचित थे। मैं जब अपनी रचनाएं

उन्हें देने जाता तो उनसे परिचय भी होता। धीरे-धीरे उनसे मित्रता भी हो गई। उन दिनों 'दैनिक सूरज' में गंजा साहित्य संपादक हुआ करता था। कुरता-पायजामा पहने हुए वह तोंदवान गंजा हमेशा चाय और पान का मरीज था। दस साल पहले मैं अपनी कुछ कविताएं 'दैनिक सूरज' में छपवाने के लिए देने गया, तब उसने कविताओं में मेरा नाम देखकर पूछा- "ये कविताएं आपने ही लिखी हैं?"

"तो क्या आपको लगता है मेरे पड़ोसियों ने मेरे नाम से लिखी हैं।" गंजा मेरा उत्तर सुनकर सहम गया। फिर थोड़ा नम्रता का लाबादा ओढ़ कर बोला- "आपकी उम्र को देखकर शंका हुई?"

"उम्र से टैलेंट का क्या ताल्लुक?"

गंजा फिर कसमसाकर रह गया। मैं कविताएं देकर चला आया। गंजे से मिलकर मुझे लगा कि मैं भी अपने सारे बाल नोचकर खुद का गंजा कर लूं। उस गंजे ने मेरी कविताएं नहीं छापीं। मैं हर इतवार 'दैनिक सूरज' में अपनीं कविताएं ढूंढ़ता लेकिन हर बार मुझे निराशा मिलती। मैंने वे कविताएं 'नईदुनिया' में भेज दीं। दो हफ्ते बाद उनमे से दो कविताएं बड़े आकर्षक ढंग से वहाँ छपी। उन्हें देखकर मुझे लगा कि गंजा कविताओं से खौफ खा गया या ईर्ष्यावश उसने नहीं छापीं क्योंकि वह खुद भी घटिया कविताएं लिखता था और 'दैनिक सूरज' में अपनी मर्जी के मुताबिक उन्हें हाई लाइट करता था।

गंजे की इस ओछी मानसिकता के चलते मैं सभी अखबारनवीसों को एक जैसा समझने लगा था। यह भी एक कारण रहा कि मुझे पत्रकारों से नफरत हुई और शायद अखबार में काम करने की कभी इच्छा नहीं हुई। यह तो अग्रवाल साहब का आग्रह ही कह लीजिए कि उन्होंने मुझे मार-मार कर सीधा संपादक बना दिया।

साप्ताहिक की डाक में आए सारे पत्रों को रीराइट किया। यह काम रात 8 बजे पूरा हुआ। मैं सारे पत्र लेकर जब अग्रवाल के कमरे में पहुँचा तो वे दूसरे अंक के प्रूफ पढ़ रहे थे। मुझे देखते ही बोले-

"संवेद जी, पहले दिन का अनुभव कैसा रहा?"

"बहुत अच्छा! पाठकों के पत्र लीजिए। मैंने पत्रों वाली फाइल अग्रवाल साहब को पकड़ा दी। उन्होंने मूल पत्र और रीराइट पत्र पढ़ डाले और खुशी से चहकते हुए बोले-

"मुझे जिस तरह के संपादक की तलाश थी वह आज पूरी हो गई। कल आप 16 पृष्ठ की डमी बनाकर मुझे दीजिए। मैं अखबार को प्रदेश का पहला दमदार साप्ताहिक बनाना चाहता हूँ। मेरी कोशिश है कि अपना साप्ताहिक ब्लिट्ज से टक्कर ले।"

"अभी तो इसे अपनी पहचान बनाने में ही वक्त लगेगा ब्लिट्ज आज का तो नहीं। काफी पुराना है फिर न आप करंजिया हैं और न मैं।" अग्रवाल साहब मेरे उत्तर से शायद थोड़ा नाखुश दिखे लेकिन बाद में उन्हें मेरी बात का सच समझ आ गया। फिर उन्होंने कहा- "हम कोशिश करेंगे 'ब्लिट्ज' की तब कही 'करंट' तक पहुँच पाएंगे।"

"मैं आपकी अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का सम्मान करता हूँ और इस दिशा में प्रयास भी करूंगा लेकिन जमीनी सच्चाई के धरातल पर ही खड़े होकर। आप मेरे साथ हैं और मैं आपके साथ। बस हमें अपना काम करना है। फल तो निश्चित ही मिलेगा।" अग्रवाल साहब संतुष्ट दिखे। कॉफी पीकर मैंने उनसे विदा ली और घर चला आया। डाक देखी - आदरणीय भारती जी का हस्तलिखित पत्र था। प्रिय भाई! महंगाई के संदर्भ में लिखे आपके दोहे 'धर्मयुग' में स्वीकृत हैं। यथासमय इन्हें प्रकाशित किया जाएगा। आपका धर्मवीर भारती भारती जी जब भी स्वीकृति भेजते स्वयं अपने हाथ से पत्र लिखते। दोहों के प्रकाशन की स्वीकृति पाकर बेहद खुशी हुई। यह खुशी यह याद करके थोड़ी कम हुई कि यही दोहे मैंने 'दैनिक सूरज' को भी प्रकाशनार्थ दो महीने पहले भेजे थे, उसने नहीं छापे इसिलए 'धर्मयुग' को भेज दिये। अब कल गंजे को खुद जाकर कहना पड़ेगा कि महारथी अब इन दोहों को छापने की कृपा न करें इन्हें फाड़कर अपनी डर्टी डस्टबिन के हवाले कर दें।

दूसरे दिन मैं अपने अखबार के दफ्तर जाने से पहले 'दैनिक सूरज' के दफ्तर गया। गंजा पान चबाते हुए मिल गया। मुझे देखकर बोला- "आओ! कवि शिरोमणी बहुत दिनों बाद आए?"

"जी, कुछ दीगर कामों में व्यस्त रहा इसलिए आपके दर्शन लाभ नहीं ले सका।"

"कौन से दीगर काम?" गंजे ने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा।

"आज की खबर' का अग्रवाल साहब ने संपादक बना दिया। इस क्षेत्र में मैं जीरो हूँ। आपसे गुरूमंत्र लेने आया हूँ।" गंजा एकदम उछल पड़ा- "आप डायरेक्ट संपादक बन गए और एक हम हैं कि प्रूफ रीडरी में पांच साल गुजारे फिर पांच साल उप संपादक रहे तब कहीं जाकर अब साहित्य संपादक बन पाए। संपादक बनेंगे या यूं ही रिटायर हो जाएंगे, कुछ पता नहीं क्योंकि 'दैनिक सूरज' का संपादक खुदा के फजल से भला-चंगा है और उसके ऊपर जाने के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते जबकि दिन रात देशी पीता है। हाँ, आपके अखबार का मालिक बहुत पैसे वाला है। आप वहाँ से मुझे पारिश्रमिक दिलाएं तो बीबी के नाम से एक स्तंभ मैं भी लिखने को तैयार हूँ। डाक से दो महीने पहले आपके दोहे मिले थे। बहुत खूब लिखे हैं आपने। अगले हफ्ते छाप दूंगा। आप भी

अग्रवाल से कहकर मेरा स्तंभ शुरू करा दो।"

"हाँ, आपने अच्छा याद दिलाया। अब आप वे दोहे अपनी डस्टबिन में डाल दीजिए क्योंकि 'धर्मयुग' ने उनके प्रकाशन की स्वीकृति दे दी है। यह पढ़िए भारती जी का पत्र।" कहकर मैंने वह पोस्टकार्ड गंजे की तरफ बढ़ा दिया। गंजे ने पूरा पोस्टकार्ड पढ़ा। वह आश्वस्त होना चाहता था कि यह नकली तो नहीं। बाकायदा 'धर्मयुग' का अपना प्रिंटेड पोस्टकार्ड था, जिसमें 'धर्मयुग' कार्यालय का मुंबई स्थित पूरा पता, दूरभाषा और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह का लोगो छपा था। गंजा स्वीकृति पत्र पढ़कर दुखी हुआ क्योंकि उम्र के इस अधेड़ पड़ाव पर पहुँचने के बाद भी वह 'धर्मयुग' में नहीं छपा था। उसने लगभग खिसियाते हुए कहा- "बधाई! भविष्य में ख्याल रखिए कि जो रचनाएं आप 'दैनिक सूरज' को भेजें उन्हें अन्यत्र न भेजें।"

"अवश्य ख्याल रखूंगा। यूं भी आपने अभी तक एक भी रचना छापने की कृपा नहीं की। पहले जो रूबरू आपको कविताएं दे गया था। वे भी आपने नहीं छापीं। लंबे इंतजार के बाद उन्हें 'नईदुनिया' भेजा। वहाँ छप गईं। शायद आप जैसी विभूति वहाँ नहीं है अन्यथा हम कवि लोगों के लिए आत्महत्या करने के अलावा कोई चारा ही नहीं रह जाता।"

मेरे उत्तर के व्यंग्य को गंजा साफ-साफ समझ गया फिर पैंतरा बदलकर बोला- "पहले मुझे यकीन ही नहीं हुआ कि ये कविताएं आपने ही लिखी हैं यह सवाल मैंने आपसे उस समय किया भी था। मैं ऐसे कटु अनुभवों से गुजर चुका हूँ क्योंकि कई छपास रोगियों ने दिनकर, निराला, पंत, महादेवी की रचनाओं को अपने नाम से छापने के लिए भेजा। मुझे कविताएं अच्छी लगीं और और मैंने छाप दीं। बाद में कई पाठकों के पत्र आए कि ये तो फलां कवि की कविताएं हैं। आपने चोरों को छाप दिया। इन्ही तिक्त अनुभवों के कारण मुझे आप पर भी शंका हुई। फिर भारती जैसे संपादक आपको कवि की मान्यता दे रहे हैं तो अब पक्का यकीन हो गया कि सारी कविताएं आपकी ही हैं। मैं हर हफ्ते छापने तैयार हूँ। हाँ, आप अग्रवाल से आज ही मेरे स्तंभ के बारे में बात करना मत भूलिएगा।"

मैं समझ रहा था कि गंजे का मूल उद्देश्य क्या है लेकिन इसके बावजूद मैं उसे आश्वस्त करके उपनी प्रेस चला आया। जाते ही मैंने अपना बैग अपने कमरे में रखा और उसमें से 16 पृष्ठीय अखबार की डमी निकालकर अग्रवाल साहब के कमरे की ओर बढ़ गया।

"नमस्कार! यह लीजिए डमी।"

"नमस्कार! संवेद जी आप कब आए? मुझे पता ही नहीं चला।"

"आप प्रूफ पढ़ने में व्यस्त थे। मैं अभी-अभी आया हूँ।"

"अच्छा चाय लेंगें या कॉफी?" डमी को गौर से देखते हुए उन्होंने कहा।

"चाय ही ठीक रहेगी।" मेरी बात सुनकर उन्होंने अपनी टेबिल पर रखी घंटी बजा दी। रामदीन दोनों हाथ सलीके से बंधे हुए प्रकट हुआ।

"रामू दो चाय स्पेशल ले आओ और हाँ, उस अलमारी से बिस्कुट और नमकीन निकालकर लाओ।"

रामू अपने काम में लग गया। अग्रवाल साहब डमी के पृष्ठ-दर-पृष्ठ देखते रहें। अंतिम पृष्ठ प आकर वे रूके- "इस पृष्ठ पर फिल्म सामग्री की बजाय आपका व्यंग्य स्तंभ जाना चाहिए। आप कोई नाम उस स्तंभ का रख लीजिए। वेतन के अलावा मैं इसका पारिश्रमिक आपको अलग से दूंगा।"

"अपना स्तंभ एक माह बाद शुरू करूंगा। अभी मेरा पूरा ध्यान अखबार को नया रूप और नई रंगत देने में है।"

"ठीक है, आप जब चाहें तब शुरू कर सकते हैं।"

"कुछ स्थायी स्तंभ हमें स्थानीय पत्रकारों से भी लिखवाने होंगे।"

"ठीक है, आप लिखवाइए। पारिश्रमिक तय कर लीजिए। हाँ, एक बात और कि आप संपादन संबंधी सारे दायित्व स्वतंत्र रूप से निभाइए। मेरा काम तो अखबार के लिए आर्थिक स्त्रोत तलाशना और समय पर अखबार छाप कर पोस्ट करना है। बाकी आप जानें आपका काम।"

"दो सहायक संपादकों की नियुक्ति भी करना होगी।"

"संवेद जी, सब आप करें। आपको ही उनसे काम लेना है। आप तो बस मुझे उनका वेतन बता दीजिए। वह मैं हर महीने उन्हें दे दूंगा।"

"ठीक है। डमी में कुछ सुधार?"

"बहुत उम्दा बनी है। मेरी तरफ से ओ.के. है।"

"जी, चलता हूँ। बहुत काम करने हैं।"

चाय पीकर मैं अपने कमरे में आ गया। राजधानी के पत्रकारों के नाम की एक सूची तैयार की किससे क्या लिखवाना है। विषय तय किए। उनको लेटर भेजने का ड्राफ्ट तैयार किया। इतना करते-करते 9 बज गए। बाकी काम को कल पर छोड़कर मैं अपने कमरे से निकला और अग्रवाल साहब से नमस्कार करता हुआ घर चला आया। अखबार में अभी कुल दो दिन ही हुए थे लेकिन इन दो दिनों में अपने लिए नया सृजनात्मक आयाम खुलते देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई।

पत्रकारिता एक घटिया पेशा है। मेरी यह अवधारणा दम तोड़ने लगी थी।

जहाँ गंजे जैसे गंदी और ओछी मानसिकता वाले लोग इस पेशे में हैं तो दूसरी तरफ़ राजेन्द्र माथुर, राहुल बारपुते जैसे सशक्त हस्ताक्षर भी इस पेशे में हैं।

देखा जाए तो राजेन्द्र माथुर को पढ़कर ही मैंने पत्रकारिता का ककहरा सीखा। डॉ. धर्मवीर भारती तो साल-दो साल में कभी कुछ ही 'धर्मयुग' में लिखते थे लेकिन राजेन्द्र माथुर का तो बाकायदा 'नई दुनिया' में एक साप्ताहिक स्तंभ था जिसे मैंने शायद ही कभी मिस किया होगा। राजेन्द्र माथुर को पढ़ने का एक नशा था हालांकि अभी तक उनसे रूबरू भेंट नहीं कर पाया था। इंदौर के लोगों से पूछा करता था- "माथुर साहब कैसे हैं?" वे बताते कि उनका कद आपके जितना है। भरे पूरे हैं। चश्मा भी आपकी तरह लगाते हैं।" कई बार इंदौर गया। 'नई दुनिया' सिर्फ माथुर साहब से मिलने गया लेकिन दुर्भाग्यवश वे सदैव कभी मुंबई, कभी दिल्ली और कभी लखनऊ गए हुए थे। महेश जोशी, यशवंत व्यास, शाहिद मिर्जा से मुलाकातें हुईं और हमारी बातचीत का मुख्य केन्द्र माथुर साहब ही रहते।

अग्रवाल साहब के अखबार में काम करते हुए मुझे पूरा एक महीना हो गया था। इसी बीच मैंने अपने दो शिष्यों को सहायक संपादक के पद पर नियुक्ति दे दी थी। एक बलेदव सिंह चौहान और दूसरा अजय खरे था। दोनों बेहद प्रतिभाशाली और काम के मामले में अत्यंत ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ, आज्ञाकारी तो थे ही। भाई-साहब कहकर मुझे बुलाते और मैं उन्हें बेटा कहकर संबोधित करता अखबार कापूरा दफ्तर एक संपूर्ण परिवार बन गया था। एक ऐसी प्रेस जिसका कोई मालिक नहीं लेकिन सब मालिक थे और सब नौकर।

बलदेवसिंह चौहान इतिहास में एम.ए. कर रहा था। उससे परिचय कार्टूनिस्ट अविनाश ने कराया। चौहान के बड़े भाई केन्द्र सरकार में बहुत बड़े ओहदे पर भोपाल स्थित रीजनल ऑफिस में थे। अविनाश ने बताया कि अपनी भाभी से तंग आकर उसने भाई का घर छोड़कर इब्राहिमपुरे में एक कमरा किराए से ले लिया है। वह अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है। मुझे यह सुनकर खुशी हुई कि यह स्वाभिमानी युवक है। मैंने अविनाश से उसी समय बोल दिया था कि- "कल आप चौहान को 2 बजे प्रेस भेज दें। उसकी नौकरी पक्की समझो।"

दूसरे दिन ठीक 2 बजे चौहान आया उसने आते ही मेरे पैर छूने की कोशिश की मैंने उसे बीच में ही उठाकर ऐसा करने से इंकार किया। वह अपनी मार्कशीट और एप्लीकेशन लेकर आया था। मैट्रिक, इंटर और बी.ए. मे वह फर्स्ट क्लास था। उसकी हस्तलिपि भी सुंदर थी। मैंने फौरन इंटरकाम पर अग्रवाल साहब को सूचित किया- "एक लड़का चौहान आया है। इसे रखना है।"

"रख लीजिए और उनका वेतन बता दीजिए।"

"वेतन मैं शाम को बताऊंगा। क्या आपके पास भेजूं उसे?"

"इसकी कोई आवश्यकता नहीं। मैं पांच बजे आपके साथ आपके केबिन में चाय पिऊंगा उसी समय उस लड़के से भी मिल लूंगा।" कहकर उन्होंने इंटरकाम बंद कर दिया। इस बीच मैंने चौहान से पूछा "तुम कितने वेतन की अपेक्षा रखते हो?"

"500 रुपए ठीक रहेंगे। वैसे 450 भी मिल जाएं तो भी कर लूंगा।"

"तुम्हारी तनख्वाह 550 रुपए कर रहा हूँ। खुश हो कि नहीं?"

"भाई साहब! आपने तो मेरा उद्धार ही कर दिया।" चौहान गद्‌गद् हो गया।

"संवेद जी! क्या हो रहा है?" कहते हुए ठीक 5 बजे अग्रवाल साहब केबिन मे दाखिल हुए। मैंने अपनी कलाई घड़ी पर नजर डाली ठीक पांच बज रहे थे। अग्रवाल साहब की याददाश्ता तगड़ी थी और समय के वे पाबंद थे। रामू चाय लेकर आ गया। अखबार के बारे में बात चलती रही। एक माह के भीतर 200 कॉपियों का इजाफा हुआ था। अग्रवाल साहब बेहद प्रसन्न थे।

"चौहान को कितना देना है?"

"550 रुपए।"

"ठीक है। अब मैं चलता हूँ।" कहकर एक नजर चौहान पर डालते हुए वे अपने दफ्तर चले गए।

मुझे आश्चर्य हुआ कि अग्रवाल साहब ने 550 के 500 नहीं करवाए। बनियों को खूब जानता हूँ वे मोल-भाव किए बिना सब्जी वाले से भी नहीं चूकते। सब्जी के साथ हरा धनिया और हरी मिर्च मुफ्त में ले जाना वे अपना मौलिक अधिकार समझते हैं। और यह एक बनिया जिसने कभी मोल तौल नहीं किया।

अजय खरे, चौहान के बाद आया। गोयल जी के जरिए अजय से परिचय हुआ। अजय एक स्थानीय दैनिक चिंगारी में काम करता था उसे तीन माह से वेतन नहीं मिला। उसका अपना परिवार था। पत्नी और दो बच्चे। वेतन के अभाव में वह कर्ज लेकर किसी तरह से घर की गाड़ी खींच रहा था। गोयल जी पहले उसे लेकर अग्रवाल साहब के पास पहुँचे। अग्रवाल साहब ने उनसे बड़ी विनम्रता से कहा- "संपादन से संबंधी सभी निर्णय हमारे संवेद जी लेते हैं। आप उनसे मिल लीजिए यदि उन्हें ये सज्जन उपयोगी लगे तो काम मिल ही जाएगा अन्यथा मैं आपकी कोई मदद करने से रहा।"

गोयल जी ने अग्रवाल साहब के शब्द ज्यों के त्यों मेरे समक्ष दोहरा दिए। मैंने अजय को एक खबर बनाने को दी। उसने बनाकर दी। कुछ करेक्शन किए और उसे नौकरी पर रख लिया उसकी तनख्वाह भी 550 तय हो गई। मैं नहीं

चाहता था कि किसी को कम और किसी को अधिक वेतन मिले और इस कारण आंतरिक क्षोभ और तनाव जन्म ले।

एक पूरी टीम तैयार हो चुकी थी। बस जरूरत थी एक स्टेनोग्राफर की जो मेरी डिक्टेशन ले सके। रोज 20-25 पत्र पोस्ट करने होते थे। मैंने अपनी समस्या अग्रवाल साहब के सामने रखी तो उनका वही उत्तर था कि आप अपाइंट कर लें। टाइपरायटर अपने पास है ही।

दो चार दिन बाद के.के.भाटिया मुझसे मिलने प्रेस आया। भाटिया दो साल पहले एक साप्ताहिक निकाल चुका था। इस अखबार में मैं आखिरी पन्ना लिखा करता था। भाटिया से दोस्ती हो गई थी। अखबार उसने बंद कर दिया था और अपने बिल्डिंग मटेरियल सप्लाई करने की तरफ ज्यादा ध्यान देने लगा था लेकिन अखबारों में उसे रूचि थी और खूब पढ़ता था। बातें करता था। उसने भाजपा के टिकट पर पार्षद का चुनाव कांग्रेस के ब्रजमोहन श्रीवास्तव के खिलाफ लड़ा था और पराजित हो गया था तबसे उसका राजनीतिक जोश ठंडा पड़ गया था उसने बी.जे.पी को चंदा देना भी बंद कर दिया था।

मैं जहाँ रहता था उस वार्ड से ही उसने चुनाव लड़ा था। मैं उसके साथ कई घरों में चुनाव प्रचार के लिए गया था। एक दिन सुबह-सुबह ब्रजमोहन श्रीवास्तव अपने कुछ शुभचिंतकों के साथ मेरे घर पधारे। मैं उनसे परिचित था। उनका अनुज मदनमोहन मॉडल स्कूल से ही पास आऊट होकर निकला था। संयोग से हिन्दी मैंने उसे पढ़ाई थी। ब्रजमोहन भी मॉडल के पूर्व छात्र थे और मुझे भाई साहब कहते थे। चाय-पान के बाद ब्रजमोहन जी बोले- "भाई साहब आपको सब पता ही है कि मैं आपके पास किस उद्देश्य से आया हूँ। आपके परिवार जनों के वोट मुझे मिलना चाहिए। आप भी कायस्थ हैं इस नाते भी आप जाति भाई को सपोर्ट करेंगे तो मुझे खुशी होगी।"

"बात दरअसल यह है ब्रजमोहन जी कि मेरा दोस्त भाटिया आपके खिलाफ खड़ा हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि जीत आपकी ही होगी फिर भी मैं जाति से अधिक बड़ा धर्म दोस्ती को मानता हूँ। मेरा वोट तो भाटिया को ही जाएगा।" मेरी स्पष्टवादिता से ब्रजमोहन जी पता नहीं प्रभावित हुए होंगे अथवा वे मुझसे नाराज होकर गए। मुझे पता नहीं लेकिन मुझे जो कहना था, वह मैंने कह दिया था, उन्हें किसी मुगालते में नहीं रखा।

भाटिया प्रेस आया तो मैंने स्टेनो वाली समस्या उसे बताई उसने फौरन वह व्यवस्था कर देने का वचन दिया। उसने बताया कि उसके "दोस्त की भांजी शार्टहैंड, टाइपिंग डी.पी.आई. से पास है। इस समय काम की तलाश में हैं। मैं कल ही शीतल को लेकर हाजिर होऊंगा।"

दूसरे दिन भाटिया शीतल को लेकर आ गया। मैंने उसे कुछ पत्रों की डिक्टेशन दी और टाइप करके दिखाने को कहा। वह कुछ देर बाद वे सब पत्र टाइप कर लाई। कुछ शाब्दिक त्रुटियां थीं उन्हें ठीक किया। मुझे लगा कि एक महीने में यह लड़की ट्रेंड हो जाएगी और हुआ भी मेरी आशा के अनुरूप ही शीतल अब शुद्ध और साफ टाइप करने लगी थी। शीतल जवान थी, खूबसूरत थी। चौहान और अजय उससे बतियाते थे। मुझे अपना काम करने में अड़चन होती थी फिर टाइप रायटर की खटखट से भी डिस्टरबेंस होता था, इन्हीं तमाम बातों को ध्यान में रखकर मैंने शीतल की टेबिल कुर्सी और टाइपरायटर अग्रवाल साहब के दफ्तर में शिफ्ट करा दिया। जब मुझे डिक्टेशन देनी होती तो रामू के जरिए उसे बुलवा लेता।

मैंने गंजे समेत तीन स्थानीय पत्रकारों को विषय देकर लेख भेजने के लिए लिखा। पारिश्रमिक 50 रुपए का उल्लेख भी कर दिया। उस समय राजधानी का कोई भी दैनिक पारिश्रमिक नहीं देता था, बस इंदौर से प्रकाशित 'नईदुनिया' ही थोड़ा बहुत पारिश्रमिक अपने लेखकों को देता था। ऐसे समय में हमने एक साप्ताहिक पत्र के लिए पारिश्रमिक देना शुरू किया। यह खबर राजधानी के पत्रकार जगत में चर्चा का विषय बनी। श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित पत्रकार छद्म नाम से ही सही हमारे अखबार से जुड़ने लगे। पूरे प्रदेश के हर जिले और तहसील में हमारे संवाददाता और एजेंट थे। एक साल के भीतर अखबार ने प्रदेश में अपनी एक अलग पहचान बना ली।

जो वेतन उस समय मुझे मिल रहा था वही स्थानीय दैनिकों के संपादकों को भी मिलता था। मुझे स्कूल से वेतन मिलता ही था इसलिए घर की आर्थिक स्थिति काफी ठीक ठाक हो गई थी। इसी दौरान मुझे सिगरेट और शराब की लत लग गई थी। सुबह स्कूल जाता 12 बजे लौटता। खाना खाता, अखबार पढ़ता फिर प्रेस चला जाता। मेरी दिनचर्या व्यस्त हो गई थी। इतवार की प्रेस और स्कूल की छुट्टी मिलती तो मित्र घर आ जाते या मैं मित्रों के घर चला जाता। मेरे पास मोपेड थी इसलिए आने-जाने में काफी सुविधा रहती। नवंबर में अखबार ने एक साल पूरा कर लिया था। इस मौके पर 100 पृष्ठों का विशेषांक निकालने की योजना बनाई। अखबार की सालगिरह पर रवीन्द्र भवन में एक समारोह आयोजित करने का निर्णय लिया गया। उस समय प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री सिंह थे। यह भी संयोग था कि अखबार का जन्मदिन और सिंह का जन्मदिन की तारीख एक ही थी।

अग्रवाल साहब ने विज्ञापन जुटाने शुरू किए। हर जिला संवाददाता ने विज्ञापन भेजे। समारोह से चार दिन पहले ही 100 पृष्ठीय अखबार छप कर आ गया। प्रथम पृष्ठ का संपादकीय मैंने लिखा और नाम डाला अग्रवाल का।

सभी जिला-तहसीलों से संवाददाता आ गए थे उन्हें शहर के विभिन्न होटलों में ठहराया गया था। शाम 7 बजे रवीन्द्र भवन में समारोह की शुरूआत हुई। मुख्य अतिथि सिंह को अग्रवाल साहब ने पुष्प माला पहनाकर जब जन्मदिन की बधाई दी तो पूरा हॉल तालियों से गूंज उठा। सभी जिला तहसील प्रतिनिधियों का स्मृति चिन्ह भेंट करके स्वागत सम्मान किया गया। सर्वाधिक अखबार की प्रतियां बेचने वाले एजेंट का भी सम्मान मुख्य अतिथि ने किया। अब सम्मानित होने की बारी मेरी थी। मुझे स्मृति चिन्ह और शॉल-श्रीफल से मुख्य अतिथि ने सम्मानित किया। इसके बाद चौहान और अजय खरे को भी सम्मानित किया गया। सम्मान का दौर समाप्त हुआ और कार्यक्रम का एक हिस्सा पूरा होने की घोषणा की गई साथ ही ठीक 9 बजे रवीन्द्र उद्यान स्थित अप्सरा में डिनर लेने के लिए सभी उपस्थित सज्जनों को आमंत्रित किया गया।

अग्रवाल साहब घर चले गए। मैं वही रहा। मुख्य अतिथि भी चले गए थे। मैं तमाम संवाददाताओं से बातचीत करता रहा। उनसे पूछता रहहा कि आप अखबार में क्या नया जोड़ना और क्या हटाना चाहेंगे। उनके सुझावों को नोट कर लिया। मैंने महसूस किया कि सभी संवाददाता इस समारोह से काफी प्रसन्न है। नौ बजने को थे अग्रवाल साहब आ गए थे। वे चैंज करने गए थे। दूसरा सूट पहनकर आए थे। मुख्य अतिथि सिंह भी आ गए। डिनर शुरू हुआ। अर्जुनसिंह जी ने सिर्फ सूप लिया। मैं और अग्रवाल साहब उनसे बतियाते रहे। कम से कम शब्दों के जरिए अपनी बात कहने वाला मैंने पहला नेता देखा। भाषा की शानदार बुनावट और कथन की कोमलता शालीनता मैंने उनमें देखी। वे करीब एक घंटे सबके बीच रहे फिर विदा लेकर चले गए। डिनर रात 11 बजे समाप्त हुआ। अग्रवाल साहब अपने अखबार की कामयाबी से बेहद खुश दिखाई दे रहे थे। कार्यक्रम उम्मीद से अधिक सफल रहा।

अखबार का नाम पूरे प्रदेश में फैल गया। अब लोग अखबार का इंतजार करते। एक साल के दौरान अखबार का कोई संयुक्तांक नहीं निकला। एक हफ्ते एडवांस में अखबार पोस्ट हो जाता। रेल, बस और डाक के माध्यम से बंडल के बंडल जाते। इस समय अखबार की प्रसार संख्या 5000 का आंकड़ा पार कर गई थी।

अग्रवाल साहब ने खुद ही प्रिंट लाइन में मेरा नाम मानसेवी संपादक के रूप में डालना शुरू कर दिया। मैं और जिम्मेदारी से अखबार से जुड़ गया। इधर नईदुनिया छोड़कर पंकज ने भी अखबार ज्वाइन कर लिया। पंकज मुश्किल से तीन-चार महीने रहा होगा कि तिवारी ने उसे कला परिषद में नौकरी दिलवा दी। इन चार-पाँच महीनों में ही वह मेरा अच्छा दोस्त बन गया था। यह दोस्ती आज भी कायम है।

चौहान ने एम.ए. इतिहास फर्स्ट डिवीजन पास कर लिया था एम.पी.पी.एस.सी. द्वारा उसका चयन सहायक प्राध्यापक के पद पर भिंड हो गया था। वह नौकरी छोड़कर चला गया। उसकी जगह सुनील को मैंने नियुक्ति दे दी।

सुनील से भी अजीब ढंग से परिचय हुआ। उन दिनों वह अपना नाम सुनील प्रियदर्शी लिखता था। कुछ कविताएं भी लिखता था। एक दिन डाक से उसका पोस्टकार्ड आया उसमें उसने मेरी रचनाओं की प्रशंसा की और मिलने की इच्छा भी प्रकट की। एक इतवार को वह आ गया। बड़ा मासूम सा दिखने वाला सुनील विनम्र और सौम्य लगा। वह मुझे अपने घर ले गया। अपनी मम्मी-पापा और भाई-बहनों से मेरा परिचय कराया। पूरा परिवार मुझे अपना ही परिवार लगा। सुनील की माताजी के स्वभाव और व्यवहार ने मुझे इस हद तक प्रभावित किया कि मैंने उन्हें बहन बना लिया। रक्षाबंधन पर बाकायदा राखी बंधवाई और हर दूज पर तिलक कराया। सुनील की शादी कच्ची उम्र में ही कर दी गई थी। मैंने भात भी दिया और उसकी बारात में कानपुर भी गया।

अजय खरे बार-बार मुझसे सरकारी नौकरी लगवाने के लिए कहता था। उसके घर सपरिवार आना-जाना था। मुझे भी लगा कि अखबार की नौकरी को कैरियर बनाना जोखिम भरा काम है इसलिए मैंने उसका परिचय 'प्रजामित्र' के संपादक दादा बलभद्र प्रसाद तिवारी से करा दिया। तिवारी जी बड़े मस्तमौला और फक्कड़ किस्म के पत्रकार थे। हाथीखाने में रहते थे वही उनका प्रेस था जिसमें एक साथ कई अखबार छपा करते थे। दादा तिवारी की पकड़ प्रदेश की राजनीति पर मजबूत थी। मुख्यमंत्री से लेकर अफसर सभी उनका सम्मान करते थे। दादा उत्सव प्रिय थे। कुछ न कुछ समारोह हर महीने उनकी प्रेस में आयोजित होता। देशी दारू के शौकीन दादा तिवारी ने प्रेस का पूरा काम अपने फोरमैन के सुपुर्द कर दिया था। प्रेस बंद करके वे फोरमैन, मशीन चालक और कंपोजीटरों के साथ शराब पीते थे।

कई मुशायरों और कवि गोष्ठियों में मैं भी गया। दादा के साथ शराब पीने और बतियाने के कई सुअवसर मुझे मिले। दादा से जब संबंध प्रगाढ़ हुए तो आत्मीयता भी बढ़ी। मैंने अजय को दादा से मिलवा दिया उसकी समस्या भी बता दी।

दादा ने पक्का वायदा किया कि वे अजय की सरकारी नौकरी लगवा कर रहेंगे। और भला हो दादा का उन्होंने अपना वायदा पूरा किया। अजय खरे की नौकरी बीज निगम में दादा ने लगवा दी। दादा आज हमारे बीच नहीं हैं लेकिन अजय खरे और मैं आज भी उनकी उदारता, सहृदयता और प्रेम को याद करते हैं। अजय खरे की नौकरी लग गई और वह भी प्रेस छोड़कर चला गया।

अजय खरे जब भी भोपाल आता तो मिलता और जब मिलने का समय नहीं होता तो फोन जरूर करता था। आज भी अजय दादा तिवारी के अहसान को भूला नहीं है। अजय खरे की जगह खाली हुई तो मैंने सीताराम के लड़के अभिनव को नियुक्ति दे दी। अभिनव प्रतिभा संपन्न युवक था। बड़ा होशियार अपने काम में माहिर। नृत्य, कला, संगीत और साहित्य पर आलोचनात्मक लिखने का उसमें खास हुनर था।

उन दिनों भारत भवन में अशोक वाजपेयी का बोलबाला था। खूब कार्यक्रम होते। देश-विदेश के ख्यातिनाम कलाकार, साहित्यकार, नर्तक, नृत्यांगनाएं, रंगकर्मी आते और इन सबसे इंटरव्यू लेने का काम अभिनव करता। अखबार में एक कॉलम 'हफ्ते का इन्टरव्यू', सोमदत्त और पं. भवानी प्रसाद मिश्र के इंटरव्यू लिये थे। उन्हीं दिनों भाई शलम श्रीराम सिंह विदिशा में अपना डेरा जमाए हुए थे। वे भी अखबार से जुड़ गए थे और उसमें कभी-कभार लिखा करते थे। शलभ जी प्रतिभा के पुंज थे लेकिन शराब अधिक पीना उनकी कमजोरी थी। शराब पीकर वे अक्सर बहक जाते थे। कई मौकों पर मुझे उनको संभालना पड़ता था। उनके साथ कई मौकों पर मुझे हालातों को बिगड़ने पर रोक लगानी पड़ी। पीने के बाद वे छिछोरी हरकतों पर उतर आते। गालियां बकने लगते और खुद को दुनिया का बेताज बादशाह समझते। नशा उतरने के बाद वे फिर से प्रतिभा पुंज बन जाते। कभी-कभी पीने के बाद वे इतने प्यारे इंसान बन जाते कि उन्हें पूजने का मन हो आता। विदिशा से हफ्ते में एक-दो बार उनका प्रेस आना तय था। एक बार पारिश्रमिक को लेकर वे अग्रवाल साहब से भी भिड़ गए बमुश्किल मैंने उन्हें शांत किया।

जब सुनील की बारात में कानपुर गया था तब समय निकालकर मैं दैनिक जागरण के दफ्तर भी हो आया था। वहाँ उस समय जो साहित्य संपादक थे, उनसे मिला। नाम से वे मुझे जानते थे। काफी आत्मीयता से मिले और उन्होंने मुझे महीने में एक इंटरव्यू भेजने के लिए कहा। मैंने कानपुर से लौटने के बाद पहला इंटरव्यू भाई शलभ श्रीराम सिंह का ही लिया जिसे दैनिक जागरण के रविवारीय परिशिष्ट में बड़ी प्रमुखता से छापा गया। जब दैनिक जागरण की लेखक प्रति मेरे पास आई तो मैंने उसकी फोटो कॉपी करके विदिशा शलभ जी के पते पर भेज दी। शलभ जी को जिस दिन वह फोटोकॉपी मिली उसी दिन वे भोपाल आए और प्रेस में मुझसे मिले। मेरा आभार माना यही तो उनका बड़प्पन था। शलभ जी का यह पहला इंटरव्यू था, बाद में तो उनके कई इंटरव्यू छपे। कई पुरस्कार भी उन्हें मिले लेकिन पहला इंटरव्यू मेरे द्वारा लिया गया था, इसे वे सबके सामने स्वीकार करते थे। वे अंततः रामकृष्ण प्रकाशन से जुड़ गए थे। उनके ही कार्यकाल में मेरा व्यंग्य संग्रह 'मक्खन से लिखा शोक संदेश' बड़े उम्दा तरीके से प्रकाशित हुआ था।

शलभ जी से आखिरी मुलाकात विदिशा में ही उनके निवास पर हुई थी। मेरी छोटी बहन का विवाह विदिशा में तय हुआ था इसी सिलसिले में कई बार विदिशा जाना हुआ। एक बार मन बनाया कि शलभ जी के साथ आज की दोपहर गुजारी जाए। शलभ जी के घर पहुँचा वे मुझे देखकर बेहद खुश हुए मुझे गले लगा लिया। दोपहर में ही दारू की बोतल खुल गई। हम लोग तीन-चार घंटे पीते रहे। शलभ जी ने अपनी नई कविताएं सुनाईं। दोपहर कब सांझ में तब्दील हो गई पता ही नहीं चला।

बाद में शलभ जी विदिशा छोड़कर दिल्ली चले गए फिर मायावर बन गए। एक दिन अखबार के जरिए पता चला कि वे इस दुनिया को ही छोड़ गए। फिर एक बार मौत याद आई। इसी तरह मुझे भी एक दिन यहाँ से कूच कर जाना है। 'आज की खबर' साप्ताहिक में काम करते हुए तीन साल पूरे होने जा रहे थे। इस दौरान अग्रवाल साहब बीमार पड़ गए उन्हें हमीदिया अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। लगभग एक महीने वे अस्पताल में रहे। मैं रोज शाम उन्हें देखने अस्पताल जाता रहा।

अग्रवाल साहब की एक दत्तक पुत्री थी। बेहद शार्प, जहीन और टैलेंटेड अग्रवाल साहब की अनुपस्थिति में वह प्रेस देखती थी। सी.ए. भी कर रही थी। उस महीने की तनख्वाह उसी ने वितरित की। मुझे साथ में बिठाकर उसने एक-एक सहकर्मी को बुलाया उसका परिचय लिया। रसीदी टिकट पर हस्ताक्षर कराए और वेतन दिया। उस दिन उसने आधा दर्जन ऐसे नाम पुकारे जो कि अस्तित्व में ही नहीं थे। पहली बार मुझे पता चला कि अग्रवाल साहब हर महीने इतने लोगों का वेतन अपनी जेब के हवाले करते थे।

खैर! उनका यह पक्ष अंततः उजागर हो ही गया। बनिया आखिर अपनी चाल चले बिना रहता कहाँ है? वे पूरे डेढ़ माह बाद प्रेस आए। डॉक्टर ने सिगरेट और शराब पूरी तरह छोड़ देने की हिदायत दी थी। उन्होंने सिगरेट की संख्या जरूर कम की थी लेकिन छोड़ी नहीं थी। शराब जरूर छोड़ दी थी।

छिंदवाड़ा के संवाददाता मुनीन्द्र त्रिवेदी प्रेस आए। अग्रवाल साहब से बात हुई, वे अखबार खरीदना चाहते थे। सौदा तय हुआ और एक पल में अखबार त्रिवेदी के नाम हो गया। अग्रवाल साहब ने मुझे बुलवाया -

''संवेद जी, मैंने अखबार त्रिवेदी जी को बेच दिया है। आज से अखबार के मालिक त्रिवेदी जी रहेंगे। आप जिस तरह से अभी तक काम करते रहे, उसी तरह से त्रिवेदी जी के साथ कीजिए। अखबार प्रबंधन की व्यवस्था मैं देखूंगा।''

''अग्रवाल साहब! आपने अखबार बेचा है, मुझे नहीं। आपने कैसे सोचा और तय कर लिया कि आप मुझे भी बेच देंगे। अखबार को इस मुकाम तक पहुँचाने में हमने अपना खून-पसीना एक कर दिया और आपने रुपयों के लालच

में आकर अखबार बेच दिया। यह लीजिए मेरा इस्तीफा मैं जा रहा हूं।'' ''संवेद जी। सोच लीजिए कहीं आपको पछताना न पड़े।'' अग्रवाल साहब ने कहा।

''मैं पछताना नहीं जानता। मुझे अपनी कलम और अपने काम पर भरोसा है।''

कहकर मैं चला आया। मेरे स्टॉफ ने भी प्रेस को अलविदा कह दिया। अलीम तन्हा को तो दो महीने पहले ही मैंने नौकरी से निकाल दिया था उसकी वजह थी उसका झूठ बोलना। हुआ यह कि अलीम तन्हा एक दिन रोनी सूरत लेकर प्रेस आया- ''भाई साहब मेरी मौसी मर गई है। मुझे छुट्टी चाहिए।''

''कैसे मर गई?''

''बहुत दिनों से बीमार चल रही थी। गैस कांड में ज्यादा गैस लग गई थी, तबसे ही बीमार थी। अब चल बसी।''

''तुम जाओ और हाँ तुम्हें पैसे की जरूरत होगी। यह सौ रुपए भी लेते जाओ। इस समय जेब में यही नोट पड़ा था।''

अलीम रुपए लेकर चला गया। मैं काम में जुट गया। शाम घर जाते समय यकायक मेरे मन में यह विचार कौंधा कि अलीम को मैंने छुट्‌टी भी दे दी और रुपए भी लेकिन उसके घर सांत्वना और शौक व्यक्त करने नहीं गए। अलीम की मौसी का घर मैंने नहीं देखा था, वसंत से पूछा तो उसने कहा- ''मुझे मालूम है। वे लिली टॉकीज के पीछे रहती है।'' ''चलो! हम उनके यहाँ चलते हैं। अलीम हमारे परिवार का सदस्य है, उसका दुख हमारा अपना है।''

वसंत के साथ हम अलीम की मौसी के घर पहुँचे। दरवाजा एक अधेड़ उम्र की महिला ने खोला ''आओ! वसंत बेटे! बहुत दिनों बाद आए। आपके साथ कौन हैं?''

''नमस्ते मौसी! अलीम कहाँ है? साथ में हमारे संपादक जी है। ये अलीम से मिलने आए है।''

''बेटा! अलीम तो सुबह 10 बजे बासौदा जाने का कहकर निकला है। कह रहा था कि प्रेस से छुट्‌टी लेकर सीधा रेलवे स्टेशन निकल जाऊंगा और एक हफ्ते बाद आऊंगा आप लोग बैठिए मैं चाय बनाकर लाती हूँ।'' यह कहकर वे किचन की ओर जाने लगीं तब वसंत और मैंने उन्हें बहुत रोका कि आप तकलीफ मत कीजिए हम चाय पीकर ही प्रेस से चले हैं लेकिन वे मानी नहीं। चाय पीकर हम वहाँ से लौटने लगे तो मौसी ने कहा- ''अलीम से क्या कहूँ?'' ''बस इतना कह देना कि संवेद जी आए थे।''

"कोई काम जरूरी हो तो मैं बासौदा खबर भिजवा दूं।" मौसी ने कहा।
"इसकी जरूरत नहीं है, उसे आराम से छुट्टी मनाने दो, जब बासौदा से आ जाए तो उसे प्रेस भेज देना।"

"जी। ठीक है।"

मौसी से विदा लेकर लौटे लिली चौराहे पर खड़े होकर हमने अलीम की बदमाशी पर बातें कीं।

मैंने वसंत से कहा- "तुम्हें तो पता ही है कि मैं सभी को सहजता से छुट्टी दे देता हूँ फिर अलीम को इस तरह का झूठ बोलने की क्या जरूरत थी। जो मौसी उसे अपने यहाँ पनाह दिए है, उसे दो वक्त का खाना और सिर का साया दिए हुए हैं, उसे जन्नत पहुँचाने की अलीम को क्या जरूरत थी।"

"भाई साहब। कुछ लोगों को झूठ बोलने का रोग होता है। अलीम को भी यही बीमारी है।"

"आने दो अलीम को उसे नौकरी से निकाल देंगे।"

"हाँ। भाई साहब ऐसे झूठे मक्कार, दगाबाज को निकालना ही ठीक रहेगा।"

वसंत को सिटी बस में बिठाकर मैं घर चला आया। रास्ते भर और घर आकर अलीम के बारे में सोचता रहा। आदमी झूठ क्यों बोलता है? अलीम देखने में इतना मासूम जितना माँ की गोद में सोया हुआ बच्चा। हरकतों में शातिर। इंसान को समझना कितनी टेढ़ी खीर है। बासौदा में हमारे कवि मित्र कृष्ण बक्षी रहते थे। पहले वे फोटोग्राफी करते थे फिर उन्होंने स्कूल शुरू किया। आज वह बासौदा का नंबर वन स्कूल है।

कृष्ण बक्षी की चिट्ठी लेकर एक दुबला-पतला और भोला सा लड़का प्रेस आया- "भाई साहब। मैं अलीम तन्हा हूँ। बक्षी भाई साहब ने यह चिट्ठी आपके लिए दी है।"

मैंने चिट्ठी पढ़ी -

"प्रिय संवेद

मैं अलीम को तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। बहुत गरीब परिवार का लड़का है। इस समय इसे नौकरी की सख्त जरूरत है। तुम यदि इसे नौकरी दोगे तो मुझ पर अहसान करोगे। भाभी-बच्चे कुशल मंगल होंगे। यार। एक चक्कर बासौदा का लगा लो, बहुत दिनों से महफिल नहीं जमी।

तुम्हारा कृष्ण

कृष्ण बक्षी का पत्र पढ़कर मैंने अलीम को नौकरी दी। अलीम बहुत काबिल और होशियार था। उम्दा ग़ज़लें लिखता था लेकिन उसका दूसरा पक्ष मेरे सामने आ गया तो मुझे घनघोर नफरत हो गई।

मेरे व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमजोरी अतिवादी होना है। किसी को चाहा तो पूरी ईमानदारी और शिद्दत से और घृणा हुई तो इस कदर कि उस आदमी से मिलना तो दूर उसकी सूरत देखनी भी पंसद नहीं।

अलीम से मुझे घोर घृणा हो गई। आठ दिन बाद जब वह प्रेस आया तो मैंने कहा- "नीचे जाओ और अग्रवाल साहब से पेमेंट ले लो। फिर मुझे कभी अपनी मनहूस शक्ल नहीं दिखाना। जो शख्स अपने स्वार्थ के लिए अपनी जिंदा मौसी को मार सकता है, वह कभी भी किसी को धोखा दे सकता है।" अलीम मेरे पैरों में गिर गया- "भाई साहब, माफ कर दो। माँ-बाप की कसम अब कभी आपसे झूठ नहीं बोलूंगा।"

"तुम्हारे मजहब में किसी के पैर नहीं छुए जाते तुम अपने धर्म के विरुद्ध आचरण कर रहे हो। तुम जाओ यहाँ से।"

अलीम रोने का नाटक करता हुआ अग्रवाल साहब के पास चला गया। थोड़ी देर बाद अग्रवाल साहब इंटरकॉम पर बोले- "संवेद जी, जरा नीचे तो आइए।" "जी! आता हूँ।" कहकर मैंने फोन रख दिया। नीचे पहुँचा तो अलीम कह रहा था "अग्रवाल साहब! मुझे यह बताइए कि- इस प्रेस के मालिक आप है। या संवेदजी उन्होंने मुझे नौकरी से निकाल दिया और आप खामोश है।"

"प्रेस के मालिक संवेद जी हैं। मैं नौकर हूँ उनका। मेरा काम तो वक्त पर अखबार छापकर भिजवाना है। आप एकाउंटेंट से अपनी तनख्वाह के रुपए लीजिए और जाइए। ये संवेद जी भी आ गए है यदि ये तुम्हें दोबारा रखना चाहें तो मुझे कोई एतराज नहीं। अब जो कुछ तुम्हें कहना हो, वह संवेद जी से कहिए।"

अलीम ने मेरी ओर देखा और उसने अंदाज लगा लिया कि अब बात बनने वाली नहीं है। इसलिए वह एकाउंटेंट से अपनी तनख्वाह लेकर गेट के बाहर हो गया।

आज उस घटना को याद करता हूँ तो स्वयं को दोषी पाता हूँ। मुझे अलीम के प्रति इतना निर्दयी नहीं होना था लेकिन उस समय मेरे व्यक्तित्व में गहराई कहाँ थी? अन्यथा अलीम को क्षमा नहीं कर देता। मेरे माध्यम से सैकड़ों को नौकरी मिली एक अलीम भर था जिसे मैंने बेरोजगार किया।

वसंत वर्मा की भी अजीब दास्तान थी। ओल्ड सुभाष नगर वाले मकान में वह ईडी पोस्टमैन था। मेरी डाक देने रोज आता था। वसंत बहुत तेजतर्राट किस्म

का लड़का था उसकी कंजी आँखें बताती थी कि वह कितना चालाक है? रोज-रोज मुलाकात का असर यह हुआ कि वह घर पर बैठने लगा। आत्मीयता और स्नेह बड़ा तो उसने कहा- भाई साहब! मैं भी पत्रकार बनना चाहता हूँ। दो बजे तक डाक बंट जाती है, इसके बाद मैं फ्री घूमता हूँ। मैं मुफ्त में आपकी प्रेस में आपसे काम सीखना चाहता हूँ।" "मुफ्त में तो मैं किसी से कोई काम कराने के खिलाफ हूँ। तुम कल आ जाना। कुछ न कुछ वेतन निर्धारित करवाकर तुम्हें रख लूंगा।"

वसंत दूसरे दिन आ गया। उसकी तनख्वाह 400 रुपए महीने तय हो गई। काम सीखने की उसमें गहरी ललक और जिज्ञासा थी। उसे जो समझ में नहीं आता उसे मुझसे पूछता। पूछने में वह कभी आलस नहीं करता था। बहुत जल्दी वह अखबार का काम समझ गया। अलीम चला गया तो एक योग्य सहायक संपादक की कमी मुझे महसूस हुई वसंत और मैंने मिलकर ज्यादा मेहनत करनी शुरू की।

एक दिन प्रेस में काम कर रहा था कि एक दाढ़ीधारी युवक ने मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा- "भाई साहब मैं बदरीनाथ पाण्डेय हूँ। रीवा जागरण में साहित्य संपादक था किन्हीं कारणों से वहाँ से त्यागपत्र दे दिया। आपके नाम से पूर्व परिचित हूँ इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। मुझे फौरन नौकरी चाहिए और रहने के लिए किराए का कमरा। यह फाइल देख लीजिए इसमें मेरे सर्टिफिकेट और कुछ प्रकाशित लेखों की कतरनें हैं।"

मैंने बदरीनाथ को बैठने के लिए कहा फिर उसकी दी हुई फाइल देखने लगा। हिन्दी, अंग्रेजी और इतिहास में एम.ए. साथ ही पी.एच.डी. भी। कई किताबों का लेखक था वह। मैंने फौरन उसे नौकरी दे दी और प्रेस के पीछे ही किराये का मकान भी दिला दिया। वह होटल गया उसने अपना सामान किराए के कमरे में शिफ्ट कर दिया।

दूसरे दिन वह सुबह-सुबह घर आया उसके साथ युवती भी थी। उसने कहा- "भाई साहब। यह आपकी बहू है, इसे आशीर्वाद दीजिए।" वह युवती मेरे पैरों पर झुकी। मैं न-न करता रहा लेकिन उसने पैर छू ही लिये।

"कल तो तुमने बताया नहीं कि शादी हो चुकी है।"

"आपने भी तो इस संदर्भ में मुझसे पूछा भी कहाँ था"?

"व्यक्तिगत बातें पूछने की मुझे आदत नहीं है।"

"यह जो आपकी बहू है यह मुस्लिम है। रीवा में इससे मुलाकात हुई फिर प्रेम में बदल गई मैंने इससे कोर्ट मैरिज कर ली, यह बात जब इसके पिता और चाचाओं को पता चली तो वे मुझे जान से मारने पर आमादा हो गए। एक

शुभचिंतक ने मुझे सलाह दी कि निशा को लेकर जल्दी भाग जाओ अन्यथा तुम्हारी खैर नहीं। मैं घबरा गया किसी तरह निशा के घर संदेश भिजवाया। वह घरेलू कैद में थी किसी तरह वहाँ से कुछ जरूरी कपड़े साथ लेकर मेरे बताए गए नियत स्थान पर आ गई। हमें लगा कि इलाहाबाद जाएंगे तो ये लोग वहाँ हमें खोज लेंगे। सबको पता था कि मैं इलाहाबाद का रहने वाला हूँ। इसलिए भोपाल चले आए। आपका घर का पता मैंने पंजाब केसरी से पहले ही नोट कर रखा था। मुझे यह पता था कि आप इस अखबार का संपादन कर रहे हैं। जैसी मैंने कल्पना आपके बारे में पहले से कर रखी थी उससे दस गुना ज्यादा आपको अच्छा पाया। आपने एक अंजान, अजनबी को कल जो सहारा दिया उसका एहसान मैं इस जन्म में चुकाने से रहा। बस ईश्वर से इतनी ही प्रार्थना है कि वह आपको और अधिक ऊंचे पद पर पहुँचाए, जहाँ बैठकर आप और अधिक लोगों का भला कर सकें।" बदरी की आंखों में नमी साफ-साफ देखी जा सकती थी।

"मैंने तुम पर कोई एहसान नहीं किया। अखबार को एक योग्य सहायक संपादक की जरूरत थी और तुम समय पर आ गए तो यह नौकरी तुम्हें मिल गई अन्यथा तुम्हारी जगह कोई दूसरा आता।" "भाई साहब यहीं तो बड़े लोगों की बाते हैं। मैं धन्यवाद व्यक्त करने आया था। अब आज्ञा दें। नई गृहस्थी जुटानी है।"

"ऐसे कैसे जा सकते हो। भोजन करके जाना।" मैंने पत्नी को ड्राइंग रूम में आने के लिए पुकारा। पत्नी आई तो बदरी और निशा ने उसका आशीर्वाद लिया।

"जाओ। बहू को अंदर ले जाओ। पहले चाय-नाश्ता भेजो फिर खाना बनाओ। बदरी और निशा हमारे साथ भोजन करेंगे" "जी। ठीक है आओ निशा भीतर चलते हैं।" पत्नी निशा को लेकर अंदर चली गई। बदरीनाथ और हम तमाम पत्र-पत्रिकाओं के बारे में बातें करते रहे। इस बीच चाय-नाश्ता आ गया। हमने किया फिर बातें चल निकलीं बातचीत के दौरान ही भोजन संपन्न हुआ। बदरीनाथ भरे भाव से विदा लेकर चला गया।

कुछ महीने बदरीनाथ ने साप्ताहिक में काम किया फिर एक दिन मुझसे बोला "भाई साहब। मैं पत्रकारिता को कैरियर बनाना चाहता हूँ। "दैनिक सूरज" में यदि आप मुझे नौकरी दिला सकें तो बड़ी मेहरबानी होगी।" "ठीक है कल दैनिक सूरज के दफ्तर चलते हैं। आजकल गंजा वहाँ का स्थानीय संपादक बन गया है। मैंने उसे खूब पारिश्रमिक दिलवाया है। मुझे उम्मीद है कि 'दैनिक सूरज' में यदि जगह हुई तो वह जरूर तुम्हें नौकरी दे देगा।" 'ठीक है भाई साहब। कल आपके साथ चलूंगा। अपनी फाइल भी सलीके से तैयार करके ले चलूंगा।"

हम दूसरे दिन ठीक 11 बजे 'दैनिक सूरज' के दफ्तर में थे। मैंने गंजे के केबिन का दरवाजा खोला "नमस्ते। भाई साहब।"

"आइए संपादक जी और बताइए कैसा चल रहा है। आपके साथ यह कौन है?"

"बदरीनाथ है।"

"अच्छा बदरीनाथ जी, आप बाहर बैठे जब आपको बुलाया जाए तब आप आइए।"

मुझे गंजे का यह व्यवहार अखर गया लेकिन उससे क्या कहता। मैं याचक बन कर आया था और याचक का मुँह सिला हुआ रहता है।

"अखबार बढ़िया चल रहा है। आपका कॉलम जोरदार है। पाठक खूब प्रतिक्रियाएं भेजते हैं, हम उनके पत्र छापते हैं। आप तो उन पत्रों को जरूर देखते होंगे।" "भई आपका पत्र वाला कॉलम तो सबसे ज्यादा रिच है। सबसे पहले वही पढ़ता हूँ। पाठकों के विचार और अच्छा लिखने के लिए प्रेरित करते हैं और छद्म नाम से लिखने का लाभ यह भी है कि पाठक बिना किसी पूर्वाग्रह के अपनी बात बेवाक ढंग से लिखकर भेजता है। यदि असली नाम से लिखो तो यह खतरा कि चापलूस लोग बिना पढ़े ही तारीफों की झड़ी लगा देते हैं। अच्छा यह बताएं कि आज महीनों बाद इधर आना कैसे हुआ?"

"आपको कष्ट देने आया हूँ।"

"बताइए क्या काम है?"

"जो युवक मेरे साथ आया है, वह डॉ. बदरीनाथ पाण्डेय है। हिन्दी, अंग्रेजी और इतिहास में ट्रिपल एम.ए. और साथ ही पी.एच.डी. भी है। पाँच साल का अखबारी अनुभव भी है। चार महीने से हमारे यहाँ संयुक्त संपादक की हैसियत से काम कर रहा है। वह पत्रकारिता को कैरियर बनाने के मूड में है इसलिए उसकी इच्छा है कि वह 'दैनिक सूरज' में आपके मार्गदर्शन में पत्रकारिता करे और आगे बढ़े।"

"आपकी बात भला मैं कैसे टाल सकता हूँ। आपने जो बदरी के बारे में बताया उससे तो यही लगता है कि लड़का काबिल है। आप उसे कल 11 बजे मिलने भेज दीजिए कल से उसकी नौकरी शुरू। हाँ, एक बात मैंने आपके व्यवहार से नोट की कि आप दूसरों के लिए बहुत कुछ करते हैं। उदाहरण के लिए समय पर मुझे पारिश्रमिक भिजवाते हैं जबकि हमारा अखबार कहने को इतना बड़ा है लेकिन बनिया एक पैसा पारिश्रमिक नहीं देता। आपकी रचनाएं मुफ्त में छापकर क्षोभ होता है।"

"भाई साहब! ईश्वर की कृपा से पैसे की कोई कमी नहीं। जब पारिश्रमिक शुरू करें तो मेरा ख्याल जरूर रखें।" "यह बात भी कहने की है क्या?" जब भी बनिया कुछ देने पर राजी हो जाएगा तो पहले नंबर पर आप ही होंगे। अभी तो वह कहता है कि- "एक तो इन्हें छापों पब्लिसिटी दो और ऊपर से पैसा भी। जब हम पैसे लेकर विज्ञापन छापते हैं तो इन कवि-लेखकों को पैसा देने का क्या मतलब?"

"आपके सेठ जी ठीक ही सोचते है। जब लेखक और कवि खुद ही मुफ्त में छपने को तैयार हैं तो फिर उन्हें पैसे देने की क्या जरूरत? आप ही बताइएगा कि कुछ नामचीन लेखकों को छोड़ दें तो कौन लेखक-कवि पारिश्रमिक की शर्त पर लिखता है।"

"फिर आपने पारिश्रमिक दिलवाना क्यों शुरू किया?"

"प्रेमचंद से एक बार किसी ने पूछा- "आप लिखने का मूड बनाते हैं, फिर लिखते हैं?" प्रेमचंद ने कहा- "क्या मजदूर मजदूरी पर जाने का मूड बनाता है? क्या किसान खेत जोतने का मूड़ बनाता है? क्या बनिया दुकान खोलने का मूड़ बनाता है? जब ये सब लोग अपना काम करने का मूड़ नहीं बनाते तो मैं कैसे बनाऊं? मैं भी मजदूर हूँ वह भले ही कलम का ही क्यों नहीं? मैं लेखन से अपना घर चलाता हूँ इसलिए रोज लिखता हूँ। यह मेरी आजीविका है।"

प्रेमचंद के उक्त कथन ने मुझे पारिश्रमिक दिलवाने के लिए प्रेरित किया। लेखक लिखता है तो उसमें उसकी सोच और श्रम दोनों ही लगते हैं। अखबार छपता है तो उसमें कागज, स्याही और अन्य चीजें लगती हैं तब कहीं जाकर अखबार छपता है यदि अखबार से पठनीय सामग्री और पूरे समाचार हटा दिए जाएं तो उसे पढ़ेगा कौन? जिस तरह अन्य मदों पर खर्च आता है, उसी तरह लेखकों को पारिश्रमिक देना भी उतना ही जरूरी है। कागज़, स्याही और डाक टिकट, लिफाफे का खर्च तो उसे मिलना ही चाहिए। कम से कम जो हम पत्र-पुष्प दे सकते हैं, उसको तो देना ही चाहिए। उस लेखक का लेख यदि आपके अखबार का एक भी ग्राहक पढ़ता है तो लेखक को दिया गया पारिश्रमिक वसूल हो जाता है। मैंने स्वयं अग्रवाल साहब से कहा था कि- आप जब हजारों रुपया अखबार से कमा रहे हैं तो उसका एक प्रतिशत तो लेखकों को दीजिए। मैं पीठ पीछे अग्रवाल साहब की तारीफ करता हूँ उन्होंने मेरे तर्क को स्वीकारा और पारिश्रमिक देना शुरू किया। हम हर संवाददाता को भी उसकी रपट का पैसा देते हैं। ताकि वह किसी थाने से हफ्ता वसूल करने की हिम्मत न जुटा सके।"

"देखिए। मैं भी अगली मीटिंग में गुप्ता जी के सामने यही तर्क रखूंगा। मुझे उम्मीद है कि वे इस बार मान जाएंगे।"

"मुझे प्रतीक्षा रहेगी। कब आप यह खुशखबरी मुझे सुनाते हैं। अच्छा आज्ञा दें। प्रेस जाना है।"

"अच्छा फिर कब मुलाकात होगी?"

"आप कभी प्रेस आएं आपका स्वागत है।"

"देखिए समय निकाल कर आता हूँ।"

"अच्छा। भाई साहब। नमस्कार।"

'नमस्कार।"

मैं बाहर आया तो प्रतीक्षा कक्ष में सोफे की कुर्सी पर बदरीनाथ बैठा हुआ था। मुझे आया देख वह मेरे पास आकर बोला।

"भाई साहब। क्या बात हुई?"

"बात बन गई। कल से तुम ज्वाइन कर लेना। ठीक 11 बजे संपादक जी ने बुलाया है।"

"भाई साहब। कल ज्वाइन तो कर लूंगा लेकिन मुझे लग रहा है कि ज्यादा दिन मैं यहाँ काम नहीं कर पाऊंगा।"

"तुम ऐसा किस आधार पर सोच रहे हो?"

"हांडी का एक चावल ही देखा जाता है। जिस बदतमीजी से गंजे ने मुझे केबिन से बाहर निकाला उससे तो यही लगता है कि इस गेंडे से मेरी पटरी नहीं बैठेगी।"

"गंजा अहंवादी है। तुम उसके अहं को पुचकारते रहे तो पूरी जिदंगी तुम्हारी "दैनिक सूरज" में कट जाएगी। खैर कल आ जाना। यूं गंजा कुल मिलाकर आदमी बुरा नहीं है। उसके इस अभद्र व्यवहार को तुम अहमियत मत दो उसने भी अपने सेठ से खूब गलियां खाई हैं। जैसा जिसे मिलता है। वह वैसा ही लौटाता है। गनीमत है कि गंजा गाली नहीं बकता। जितने दिन तुम्हारा मन करे, नहीं तो अपना अखबार तो जिंदाबाद है ही।" "ठीक है भाई साहब। कल से ज्वाइन कर लेता हूं।"

"अब चलें।"

"हाँ, आइए। चलते है।"

बदरी ने 'दैनिक सूरज' दूसरे दिन ज्वाइन कर लिया। कभी कभार बदरी मिलने आता तो उसकी बातों से मुझे बराबर यह आभास होता कि वह किसी भी क्षण 'दैनिक सूरज' को बाय-बाय कह सकता है। दो माह बाद मेरी आशंका सच साबित हुई। बदरी घर आया।

"भाई साहब 'दैनिक सूरज' से रिजाइन कर दिया अब इलाहाबाद जा रहा हूँ, वहीं कुछ करूंगा।"

"इस्तीफे की खास वजह?"

"गंजे का अपमानजनक व्यवहार।"

"क्या बात हुई?"

"मुझे एक बीट में दस दिन से ज्यादा काम नहीं करने देता था। पहले मुझे सचिवालय की वीट दी गई। मैंने एक प्रमुख सचिव के भ्रष्टाचार के बारे में जरूरी सबूतों के साथ स्टोरी बनाई उसे गंजे ने यह कहकर फाड़ दी कि- 'तुम्हें कुछ नहीं आता। कल को वह प्रमुख सचिव तुम्हारी इस स्टोरी को अदालत में चुनौती दे दे तो तुम्हारा क्या जाएगा? गुप्ता तो मुझे प्रेस से बाहर कर देगा।" इसी तरह सिटी रिपोर्टिंग पर लगाया। वहाँ से भी हटा दिया। आरोप यह कि तुम खबर कम लिखते हो। व्यक्ति विशेष का हाईलाइट ज्यादा करते हो, क्या उसने तुम्हें खबर लिखने के पैसे दिए या कोई कीमती गिफ्ट दे दी।" मुझे गंजा जानबूझकर अपमानित करता। कभी कहता- "अखबार में मिडिल पास और मैट्रिक फेल लोगों की जरूरत होती है। पी.एच.डी. कर ली तो किसी यूनिवर्सिटी में जाकर पढ़ाओ यहाँ क्या झक मार रहे हो। तीन विषय में एम.ए. करने से ही कोई पत्रकार नहीं बन जाता। पत्रकारिता के लिए बड़े पापड़ बेलने पड़ते हैं। हमने बहुत पापड़ बेले तब कहीं जाकर आज स्थानीय संपादक बने हैं। तुम अभी अखबार की ए.बी.सी.डी. क्या जानो।" गंजे की ये बातें मेरी बर्दाश्त से बाहर हो गईं और मैं नौकरी पर लात मारकर चला आया। अच्छा भाई साहब अब आपसे विदा चाहता हूँ।" बदरीनाथ की आंखों में आंसू भरे हुए थे। मैंने उसे भरे गले से विदा किया।

बदरीनाथ जो इलाहाबाद गया तो दस सालों तक उसकी कोई खैर खबर नहीं मिली।

अग्रवाल साहब ने अखबार बेच दिया था। मैं अपना इस्तीफा उन्हें थमा आया था। मुनीन्द्र त्रिवेदी भागा-भागा घर आया- "संवेद जी आपके भरोसे ही तो मैंने अग्रवाल से अखबार खरीदा था। आपने ही अखबार छोड़ दिया तो अब मैं क्या करूं?"

"त्रिवेदी जी, अब उस अखबार में तो मेरा काम करना संभव नहीं है। यह राजधानी है बहुत से लोग आपके साथ काम करने तैयार हो जाएंगे। कृपया मुझे क्षमा करें।"

त्रिवेदी मायूस और उदास चले गए। बाद में सुनने में आया कि अलीम तन्हा वहाँ काम करने लगा है। अखबार के एक-दो अंक ही निकले होंगे कि

त्रिवेदी का मोहभंग हो गया और व्ह छिंदवाड़ा लौट गया। अग्रवाल ने अपना प्रिंटिंग का मूल धंधा शुरू कर दिया। अखबार बेचकर जो पैसा मिला उसे उन्होंने नई फियट खरीद ली। मुझे उस दिन यह एहसास हुआ कि बिजनेस बनिया ही कर सकता है।

सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार भाई लतीफ घोंघी भी हमारे साप्ताहिक से जुड़ गए थे। एक कॉलम उनका हर हफ्ते व्यंग्य का जाता था। लतीफ साहब को मैंने साप्ताहिक हिंदुस्तान में कई बार पढ़ा था। उनके लेखन का मैं प्रशंसक था। उनसे पहली रूबरू मुलाकात प्रेस में ही हुई। वहीं मैंने उनके समक्ष कॉलम लिखने का प्रस्ताव रखा जो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। "बिजली वाले की बारात में" इस शीर्षक से वर्षों पहले साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपे उनके व्यंग्य पर मैं फिदा हो गया था। लतीफ साहब ने दो साल नियमित स्तंभ साप्ताहिक में लिखा। उनसे गहरी आत्मीयता हो गई थी। इस बार जब वे भोपाल आए तो उन्हें पता चला कि मैंने अखबार छोड़ दिया है तो वे घर आए और बताया कि- "आप 'बांके बोल' ज्वाइन कर लीजिए मैंने उसके मालिक रमेश मगन से आपकी बात कर ली है। फिलहाल उसे 1200 रुपए पर राजी कर लिया है। आप कहें तो अभी चलकर फायनल कर लेते हैं।" "जी! भाई साहब ठीक है। चाय-नाश्ता करके चलते हैं। आपने बड़े भाई का फर्ज बखूबी निभाया इसके लिए शुक्रिया। आज के जमाने में भला कौन किसके लिए करता है? "क्यों नहीं करता? आपने कितना किया। पत्रकारिता का पूरा स्कूल चलाया आपने। इतने लोगों को काम पर लगाया। हर मौके पर अपने मित्रों को ओब्लाइज किया। आपके लिए क्या हम कुछ नहीं कर सकते।"

"भाई साहब यह तो आपका अपनापन और बड़प्पन है।"

चाय लेने के बाद हम और लतीफ भाई मोपेड पर सवार होकर रमेश मगन से मिलने गए। मगन मुझे पहले से ही जानता था। कवि गोष्ठियों में उसकी कुछ कविताएं सुनीं थीं। बहुत अच्छी थीं लेकिन लिखता कम ही था। मगन ने कल से सारा काम संभालने को कह दिया। लतीफ साहब्र महासमुंद के लिए रवाना हो गए मैं उन्हें स्टेशन पर विदा देकर घर चला आया।

उस रात देर तक नींद नहीं आई। बिस्तर पर लेटे-लेटे बस यही सोचता रहा कि आप जो बोते हैं, वही काटते हैं।

दूसरे दिन 'बांके बोल' ज्वाइन कर लिया। यहाँ वेतन भी 300 रुपए महीने ज्यादा था। अग्रवाल साहब 900 देते थे। उस साप्ताहिक के मुकाबले 'बांके बोल' 12 पृष्ठ का था। यानी 4 पृष्ठ कम का अखबार। रमेश मगन चूंकि जॉब वर्क पर अधिक ध्यान देता था इसलिए उसका साप्ताहिक, साहित्यिक और

बौद्धिक किस्म का था। वह बिकने वाला नहीं बल्कि बांटे जाने वाला अखबार था। एक बार फिर नए सिरे से डमी तैयार करके मगन को दिखाई। दरअसल मैं उसे बिकने वाला अखबार बनाना चाहता था। मगन ने मेरे विचार पर अपनी सहमति की मुहर लगा दी। मैंने अपने परिचित संवाददाताओं को पत्र लिखे और अखबार की एक-एक नमूना प्रति पोस्ट करवा दी। कुछ दिनों में ही परिणाम मिलने शुरु हो गए। जगह-जगह अखबार के एजेंट और संवाददाता बन गए। सिक्यूरिटी डिपाजिट के एम.ओ. आना शुरु हो गए। यह सब देखकर रमेश मगन बेहद खुश हुआ उसने पूरा अखबार एक तरह से मेरे हवाले कर दिया।

चार महीने में भीतर 'बांके बोल' की 1000 कॉपियां बिकने लगी थीं। रमेश मगन खुश था लेकिन उसके दोस्त-यार खफा थे। ये वे दोस्त थे जो साहितय का झंडा अपने कांधे पर उठाए उसे श्मशानघाट का रास्ता दिखा रहे थे। आम आदमी को साहित्य से काटने का काम ये लोग बखूबी कर रहे थे। अपनी बौद्धिक भड़ास ये कविताओं के जरिए निकाल रहे थे। ये कविताएं ऐसी थीं जिन्हें सिर्फ लिखने वाला ही समझ सकता था। इनके लिखने का एक ही मकसद था कि ये कविताएं किसी को समझ में न आ जाएं।

रमेश मगन के पास 'भारत भवन' का पूरा जॉब वर्क था। भारत भवन से प्रभावित साहित्य परिषद और कला परिषद का सारा काम रमेश मगन ने ले रखा था। इस कारण इन संस्थाओं से जुड़े हुए लोग मगन की प्रेस को अपना अड्डा बनाए हुए थे। वे प्रूफ देखने आते ले आउट देखने आते और सामग्री छपने तक वहीं चायबाजी और गपशप करते। इस पूरे ग्रुप को 'बांके बोल' में मेरी उपस्थिति खटकती लेकिन रमेश मगन का पूरा सपोर्ट मुझे था।

प्रीतमपुर की संवाददाता आभा सिंह और उसकी कवयित्री बहन ऊषा सिंह खबरों के साथ-साथ अपनी कविताएं और ग़जलें भी प्रकाशनार्थ भेजती थीं।

ऊषा सिंह की ग़जलें उच्च कोटि की होती थीं। उसकी ग़जलों ने मुझे प्रभावित किया। पत्र व्यवहार शुरू हुआ और इतने अच्छे-अच्छे पत्र दोनों ओर से लिखे गए कि वे साहित्य का इतिहास बन गए। एक पत्र में प्रीतमपुर आने का मुझे न्यौता दे डाला।

मैं उससे मिलने का मोह संवरण नहीं कर पाया और 'बांके बोल' से दो दिन का अवकाश लेकन प्रीतमपुर बस द्वारा रवाना हो गया। लगभग 10 धंटे का लंबा सफर तय करके जब मैं प्रीतमपुर बस स्टैंड पर उतरा तो संकोच ने मुझे घेर लिया। ऊषा सिंह हायर सेकेण्डरी स्कूल में लेक्चरार थी और उसकी छोटी बहिन आभा सिंह फिलासफी में एम.ए. कर रही थी। घर में शिक्षा विभाग से

रिटायर्ड उनकी माँ थीं। ऊषा और आभा ने विवाह नहीं किए थे। मर्द नाम की कोई शख्सियत उस घर में नहीं थी।

ग़ज़लों के साथ आभा और ऊषा सिंह के फोटो भी आते थे और मैंने फोटो सहित उनकी ग़ज़लें छापीं थीं। फोटो में दोनों बहनें अभिनेत्रियों की तरह दिखती थीं।

संकोच की गांठों से बंधा हुआ मैं आखिरकार रिक्शा करके हिरणबाग पहुँच गया जो कि ऊषा सिंह का घर था। घर पर केवल उनकी माँ मिलीं। मैंने चरण स्पर्श करके उनका आशीर्वाद लिया। आभा और ऊषा के बारे में पूदने पर उन्होंने बताया कि बाजार गईं हैं और अभी आती होंगी।

उनकी माता जी भी कवयित्री थीं अतः कविता और साहित्य पर उनसे बात होती रही। समय का पता नहीं चला। इस दौरान ऊषा और आभा भी आ गईं। हम सब एक-दूसरे से मिलकर खुश थे। मैंने अपने बेग से मिठाई का डिब्बा और अपने दो संग्रह ऊषा को दिए। 'नदी प्यासी है' ग़ज़ल का संग्रह ऊषा उसी समय पढ़ने लगी। एक-एक शेर की उसने जमकर तारीफ की। संग्रह की पूरी 32 ग़ज़लें उसने पढ़ डालीं। 'लय भंग' की कविताएं आभा पढ़ रही थी।

उन लोगों से मिलकर मेरा सारा संकोच जाता रहा। हम एक परिवार के सदस्य जेसे हो गए। ऊषा संवले-सलौने रंग की और तीखे नयन-नक्श वाली लड़की थी। उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में वह शोखी और बांकपना था कि हृदय की धड़कनों को थरथरा कर रख देता था। आभा खूब गोरी चिट्टी थी वह यूरोपियन गर्ल लगती थी लेकिन जो सौंधापन ऊषा में था, जो लावण्य था उसका कोई जवाब नहीं था। बतयाने में ठेठ बुंदेली लेकिन लेखन में हिन्दी के तत्सम शब्दों का विशिष्ट प्रयोग। अपने विचारों और भावों में स्पष्टता बेबाकी और खुलापन। ऊषा और आभा रसोई में खाना बनाने गईं तो मुझे भी साथ ले गईं- "चलिए संवेद जी, आप यहाँ बैठे-बैठे क्या करेंगे? दाल छोंकिए, सब्जी का मसाला भूनिए और रोटियां बेलिए। "हाँ, क्यों नहीं। यूं मुझे रसोई घर में रहने का अनुभव है। माँ जब खाना बनाती थीं तो मैं उनके पास रसोईघर में घंटों रहा करता था और गरमागरम खाना सबसे पहले माँ मुझे ही खिलाया करती थीं।"

"आज भी सबसे पहले हम लोग आपको ही खाना खिलाएंगे। आप इसकी फिक्र न कीजिए।" ऊषा, आभा और मैं तीनों ठहाका लगाकर हंस पड़े।

खाना बनता रहा और हम तीनों अखबार, पत्रिका और साहित्य की बात करते रहे। आभा-ऊषा अपनी माँ को अन्ना जी कहकर संबोधित करतीं थीं। मैं भी उन्हें अन्ना जी कहने लगा। ऊषा मेरी हम उम्र थी अभी उसकी और आभा की शादी नहीं हुई थी। यह मेरे लिए एक पहेली थी कि इतनी खूबसूरत और जहीन

लड़कियां कुंआरी क्यों हैं? यह घोर व्यक्तिगत सवाल था। इसे पूछने की न मुझमें हिम्मत थी और न ही यह प्रश्न शिष्टाचार के दायरे में आता था।

जब ऊषा बोलती थीं तो उसकी आँखें नृत्य सा करती थीं। मेरा संयम डोलने लगता था। खाना बन चुका था। रसोई से सारा भोजन बैठक में लाया गया। हम सबने फर्श पर भारतीय पद्धति से भोजन किया। खाना खाने के बाद आभा-ऊषा ने मुझे विश्राम करने की सलाह दी। रात भर बस के सफर से थकान तो थी ही मैं पलंग पर लेट गया। कब आँख लगी पता ही नहीं। शाम 6 बजे नींद खुली। फ्रेश हुआ तब तक ऊषा चाय बना लाई थी। सबने चाय पी।

"आभा जी, ऊषा जी अब आप अपनी रचनाएँ सुनाएं।" मैंने आग्रह किया।

"पहले आप सुनाइए।"

"मैं जो सुनाता वह आप दोनों पढ़ ही चुकी हैं।"

"यह लीजिए आपकी 'नदी प्यासी है' इसी की कुछ ग़ज़लें सुनाइए। पढ़ने और सुनने दोनों का अपना-अपना आनंद होता है। रचयिता का अपना अंदाज और अपनी लय होतीी है।"

मैंने तीन-चार ग़ज़लें सुनाई। अन्ना जी, आभा और ऊषा ने जमकर तारीफ की। आभा ने कुछ बेहतरीन किस्म के नवगीत सुनाए। शब्द चयन और उनकी भाव भूमि हृदय को पुलकित करने वाली थी। ऊषा ने 'चांद' वाली ग़ज़ल सुनाई जिसका हर शेर लाजवाब था। छोटी बहर की कसी हुई ग़ज़ल अभिभूत करने वाली थी। आज 16 वर्ष बाद भी उसकी ग़ज़ल 'चांद' के ये शेर मुझे याद हैं-

प्रियतम का खत पूरनमासी
अक्षर-अक्षर उतरा चांद
फुरकत के बेबस लम्हों में
इश्क परिन्दा, पिंजरा चांद
तन्हाई का आलम 'ऊषा'
ग़ज़ल चांदनी, मिसरा चांद

रात का भोजन रसोई में ही रहकर बना। हम तीनों गीत, ग़ज़ल और कविता में खोए रहे। खाना खाकर कुछ देर गपशप हुई। मेरे लिए आँगन में पलंग बिछाया गया। मच्छरदानी लगाई गई। अप्रैल का आखिरी सप्ताह था। ठंडी ठंडी हवा बह रही थी। आभा, ऊषा और अन्ना जी भीतर सोने चले गए और मैं आँगन में आ गया। बहुत देर तक ऊषा के बारे में सोचता रहा फिर कब आँख लगी पता नहीं।

सुबह फ्रेश होकर चाय-नाश्ता किया फिर ऊषा के साथ खजुराहो जाने का कार्यक्रम तय किया। हम बस स्टैंड पहुँचे। बस पकड़ी और खजुराहो चल दिए। प्रीतमपुर से खजुराहो 65 किलोमीटर दूर था। ऊषा मेरे पास बैठी थी उसने धूप का काला चश्मा लगा रखा था और गर्म हवाओं से बचाव के लिए अपनी साड़ी को लगभग सिर पर लपेट लिया था। खिड़की से सटी हुई वह बैठी थी इसलिए हवा के झौंके उसकी लटों को चेहरे पर बिखरा रहे थे। ऊषा के बाल बेहद लंबे और आकर्षक थे। दो-दो मोटी चोटियों में बमुश्किल समा पाते थे। पता नहीं क्यों मुझे शुरु से ही लंबे घने बाल वाली लड़कियां पसंद आती रही हैं। ऊषा आशा और अनुकंपा बालों के मामले में बड़ी धनवान थी॥

हम तकरीबन 11 बजे खजुराहो पहुँच गए। ऊषा ने एक-एक करके सारे मंदिर दिखाए कामुक मुद्राओं में पत्थर पर उकेरी गईं स्त्री-पुरुष की नग्न प्रतिमाओं को देखकर आँखें विस्मित हो गईं। अप्रैल का महीना इक्का-दुक्का पर्यटक और हम दोनों का साथ ऐसा लगा रहा कि हम स्वप्नलोक की सैर कर रहे हैं।

प्रीतमपुर पहुँचने से 15 दिन पहले ही मैंने ऊषा को पत्र द्वारा सूचित कर दिया था कि मैं तुम्हारे साथ खजुराहो भी देखना चाहता हूँ। उसका पत्र आया "मुझे खुशी होगी आपका सह-पर्यटक बनने में। मंदिर से लौटकर आपका पत्र मिला तो ऐसा लगा कि आज डबल प्रसाद मिल गया। आपके आगमन का स्वागत है। प्रतीक्षारत्, ऊषा"

ऊषा के अनगिनत पत्र मेरी डाक फाइल में मौजूद हैं। हर पत्र बोलता हुआ है। ऊषा जैसे सामने खड़ी मुझसे बात कर रही है। वे पत्र मैंने एनएससी की तरह सहेजकर रख छोड़े हैं।

हम एक मंदिर में कुछ ज्यादा देर रुके। एक प्रतिमा में एक स्त्री का चेहरा इस तरह तराशा गया कि उसकी आँखों का फैलाव नायिका के कानों तक जा पहुँचा। इसे देखकर मैंने ऊषा की आँख और कान के बीच अपनी चार उंगली रखते हुए कहा- "ऊषा! कलाकार की कल्पना भी कभी-कभी अति कर जाती है। यह देखो तुम्हारी आँख और कान के बीच कितना फांसला है? लेकिन कलाकार ने नायिका की आँखों का इतना विस्तार किया कि वे कान तक पहुँच गईं। यथार्थ और कल्पना में कितना अंतर है?"

"संवेद जी, कलाकार और आम आदमी में यही अंतर है। कलाकार हर बार अपनी कल्पना से यथार्थ की सीमाएं तोड़ता है। कलाकार की कल्पना ऐसी रही होगी कि वह अपनी नायिका की इतनी विस्तृत आँखें देखना चाहता होगा इसलिए उसने अपनी कल्पना को साकार करने के लिए पत्थर पर ही सही, अपनी कला को संवार दिया होगा।"

मेरे हाथ की उंगलियां अभी भी उषा के चेहरे पर थीं। मुझे लगा कि यह स्पर्श बना रहे लेकिन िशिश्टाचार का तकाजा था कि मैं वहाँ से अपनी उंगलियां हटा लूं और तत्क्षण मैंने ऐसा ही किया। ऊषा के चेहरे को एक बार गौर से पढ़ा तो महसूस हुआ कि यह भी खजुराहों की नायिकाओं में से एक है।

हम काफी देर तक घूमते रहे। सार मंदिर देख चुके थे होटल में खाना खाया। भूख तेज थी इसलिए खाना जायकेदार लगा। कुछ खरीदारी की और वापस बस स्टैंड आए। प्रीतमपुर की ओर बस चल पड़ी। उषा का साथ होने से सफर का आनंद दोगुना हो गया था। मुझे लगता रहा कि यह सफर कभी खत्म न हो और हम इसी तरह बस में बैठे हुए पूरी जिंदगी बस चलते ही रहें। उषा के चेहरे की छुअन की मादकता अभी तक उंगलियों में मौजूद थी। मन चाहता था कि अपनी अंजुरी में उषा का चांद सा मुखड़ा भरकर चूम लूं। यह इच्छा सूने मंदिर में पूरी हो सकती थी। लेकिन इसके लिए जो दम और साहस चाहिए होता है, वह मुझमें नहीं था। आस और चाह की नियति शायद अधूरा रहना ही है। रात का खाना सबने मिलकर खाया। सुबह मुझे भोपाल रवाना होना था। मन कहता कि यही रूके रहो और विवेक कहता कि चलना चाहिए।

रात देर तक सोया नहीं। सुबह-सुबह आँख लगी और फिर खुली। सबसे विदा लेकर मैं बस स्टेंड पहुंचा भोपाल वाली पहली बस निकल गई थी। दूसरी के आने में एक घंटे का समय शेष था। इस समय का सदुपयोग करने के लिए मैंने नाई की दुकान की ओर रूख किया। ख्याल आया कि मैं सेविंग बॉक्स लेकर नहीं चला। दाढ़ी के बाल कह रहे थे कि बेटा सेविंग करवा लो। मैं नाई की दुकान पर रखी कुर्सी पर बैठ गया। वह मेरी दाढ़ी बनाने में व्यस्त हो गया।

सेविंग हो चुकी थी। घड़ी देखी अभी आधा घंटा शेष था। चाय होटल की तरफ बढ़ गया। बेंच पर बैठ कर अखबार पढ़ने लगा और एक स्पेशल चाय का आर्डर दुकानदार को दे डाला।

अखबार पढ़ने और चाय पीने में आधा घंटा गुजर गया तब तक भोपाल जाने वाली बस आ चुकी थी। मैं अपना बेग लिए बस में खिड़की वाली सीट पर जा बैठा।

पता नहीं क्यों बचपन से ही रेल या बस में मैं खिड़की के पास वाली सीट पर ही बैठता था। लगातार चलती हुई बस से मैं पीछे छूटते हुए जंगल, पेड़, पहाड़, खेत देखता रहता था। बस चल दी और मैंने सिगरेट सुलगा ली। लगातार दो दिन सिगरेट नहीं पी पाया क्योंकि मैं उस घर में मेहमान था, जहाँ कोई अन्य पुरूष नहीं था और उषा, आभा और अन्ना जी की उपस्थिति में सिगरेट पीने की न तो इच्छा हुई न हिम्मत। सिगरेट का धुआं खिड़की के बाहर

छोड़ता रहा। धुआं शुद्ध वायु में गुम होता रहा ओर मैं देवानंद स्टाइल में गुनगुनाने लगा- "हर फिक्र को धुएं में उड़ाता चला गया, यूं ज़िंगदी का साथ निभाता चला गया।"

भोपाल लौटने के बाद काफी दिनों तक मैं उषामय रहा। एक खुमारी सी तारी रही मन का उल्लास कई गुना रहा। उषा के सानिध्य ने मेरी रचना चेतना को स्फूर्त बना दिया इसी नशे में मैंने एक लंबी कहानी लिख डाली बाद में यह कहानी 'शिखरवार्ता' के दो अंकों में धारावाहिक रूप से छपी। कहानी का कथानक प्रीतमपुर और खजुराहो यात्रा पर केन्द्रित था। कहानी इतनी दमदार थी कि कई पाठकों के पत्र आए। कुछ को वह अपनी ही कहानी लगी। इसके बाद एक लंबी प्रेम कविता भी लिख डाली और लगे हाथ उसे उषा को पोस्ट भी कर दिया। बाद में यह कविता 'अमर उजाला' में छपी। उस कविता की कुछ पंक्तियां इस तरह थीं-

खोल दोगी तुम पलक
होगा सबेरा
बंद कर लोगी यकीनन
रात होगी
रूप की बरसात होगी
चांदनी को भर लिया है
अंजलि में
शंख फूंका प्रेम का मैंने
कली में
बोल दो, दो बोल
तो होगा बसेरा
चुप रहोगी तो न
कोई बात होगी
इक उदासी साथ होगी

उषा का खत जल्दी आया उसने उक्त कविता की जमकर तारीफ की थी और साथ ही अपनी नवजात कविता की ये पंक्तियां भी लिख भेजीं थीं-

दर्द है आश्ना जमाने से
दिल में उठता है फिर धुआं कोई
मंजिलें-राहे इश्क में 'उषा'
चलते-चलते नहीं थका कोई

कभी-कभी मुझे लगता कि उषा मुझसे कई गुना बेहतर लिखती है फिर भी वह बार-बार खुद को बेहद छोटी कवयित्री बताती है। समझती है। उषा की यह महानता ही है। उषा में क्या कुछ नहीं था। संपूर्ण सौंदर्य और अद्‌भुत प्रतिभा का मेल लेकिन आज भी यह लड़की मीनाकुमारी की तरह तन्हा-तन्हा है। काश! मैं कमाल अमरोही बन पाता।

मैं कमजोरियां का पुतला रहा हूँ। इतनी कमजोरियों को पाले बैठा हूँ कि मुझे कभी-कभी खुद पर शर्म आने लगती है। आत्म साक्षात्कार के दौर से गुजरते हुए कभी-कभी मुझे तुलसी बहुत याद आते हैं- "मो सम कौन कुटिल, खल, कामी।" यह पंक्ति उन्होंने मेरे लिए ही लिखी हो। मुझ पर सौ फीसदी फिट बैठती है।

मैं बहुत दिनों तक किसी भी संबंध को निभा नहीं पाया। अपनी खुद की गलतियों और थोथे अहं की वजह से हर संबंध शीशे की तहर चटखकर रह गया। उसकी किरचें मेरे शरीर में चुभती रहतीं और महसूसता रहता संबंधों की टूटन।

उषा के सर्वाधिक पत्र मुझे मिले। कुछ सनक छूटी तो अंग्रेजी में पत्र लिखा। उषा का जवाब भी अंग्रेजी में आया। मैं चौंक गया कितनी जहीन लड़की है। किसी भी कोण से अधूरी नहीं। पूरी की पूरी।

प्रीतमपुर और खजुराहो की यात्राएं ऐतिहासिक रहीं। आज वर्षों बाद भी वे क्षण अपनी पूरी जीवंतता के साथ स्मृतियों में गुथे हुए हैं।

फिर वही स्कूल, वही प्रेस और वही लेखन। उन दिनों में धुआंधार लिख रहा था और छप रहा था, हर उस अनुभव को लिख रहा था जो मेरे मौलिक थे, जिन पर सिर्फ मेरा ही अधिकार था।

इस बीच अनुकंपा का पत्र मिला। वह वीरनपुर में कॉलेज में सहा. प्राध्यापक हो गई थी। वह लगातार 'धर्मयुग' 'रविवार' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में पढ़ रही थी। उसकी शादी हो चुकी थी और वह एक पुत्र की माँ भी बन चुकी थी। मैं जीवन की आपाधापी और अपनी कुछ बेवकूफियों के कारण उसे भूल सा गया था लेकिन सालों बाद जब उसका पत्र मिला तो मेरी खुशी का कोई ठिकाना न रहा। अनुकंपा ने लिखा था-

प्रिय संवेद।

अभी-अभी तुम्हारा व्यंग्य 'गंगा स्नान के बहाने' धर्मयुग में पढ़ा सच तुम बहुत अच्छा लिखते हो। बधाई। मैं पिछले साल ही माँ बनी एक प्यारा सा बेटा है। उसका नाम वेदांत रखा है। कैसा नाम है? लिखना।

पिछले दिनों एक उपन्यास पढ़ रही थी तो मन में आया कि तुम्हें लिखूं कि तुम उपन्यास क्यों नहीं लिखते तुम मन को भटकाते बहुत हो, उसे ठहराव दो, समय निकालकर उपन्यास लिख डालो तुम्हारे पास इतने अनुभव हैं कि उन्हें समेटने की देर है। अपनी शक्ति को यूं ही बर्बाद मत करो उसे सृजन में लगा दो मुझे विश्वास है कि कोई कालजयी कृति अवश्य निकलेगी। तुम्हारे साथ एक ही समस्या है कि तुम बहते रहते हो थमते नहीं हो। कभी वीरनपुर आओ यहाँ आसपास काफी दर्शनीय स्थल हैं। रीता से तुम्हारा पता लिया। कभी-कभार अपने दोस्तों की खबर ले लिया करो। अनुकंपा पुनश्चः और हाँ बेटा, उपन्यास लिखना मत भूलना।

अनुकंपा जब ज्यादा प्यार जताती थी तब बेटा कहकर संबोधित करती थी। रीता से उसके बारे में समय समय पर मुझे खबर मिलती रहती थी लेकिन कभी खत लिखने का मन नहीं हुआ अनुकंपा पराई हो गई थी और अब उससे संबंध रखने का कोई औचित्य भी मुझे समझ नहीं आ रहा था। अनु के इस खत का भी मैंने कोई जवाब नहीं दिया। हो, एक बात ही उसकी याद रखी कि भविष्य में उपन्यास जरूर लिखना है।

इधर रमेश मगन के पास प्रेस में जॉब वर्क इतना आने लगा कि प्रेस रात-दिन चलती। रुपया बटोरने के चक्कर में अखबार लेट होने लगा। महीने में चार अंक की जगह दो ही निकलने लगे। एक हफ्ते काम करता और दूसरे हफ्ते प्रेस जाकर बोर होता।

रमेश मगन की भी अपनी मजबूरियां थीं। यह भी सच था कि अखबार से उसे फायदा न के बराबर था लेकिन जॉब वर्क के कारण अखबार भी चल रहा था। मुझे काम करने की सनक टाइप थी, जब देखा कि रमेश मगन का ध्यान अखबार से उतर गया है तो एक दिन मैंने उससे कहा- "अब विदा चाहता हूँ।"

"क्यों? क्या बात हो गई या दूसरा अखबार देख लिया?"

"कोई बात नहीं हुई पिछले दो महीने से देख रहा हूँ अखबार छापने के लिए आपके पास समय नहीं है। दो महीने में 4 अंक आए हैं। एक महीने मैंने काम किया और एक महीने निठल्ले बनकर काटा।"

"आप तो जानते ही हैं कि अखबार तो घाटे में चल रहा है। जॉब वर्क सब अर्जेंट हैं, इन्हें पूरा करना मेरी पहली जिम्मेदारी हैं आपको वेतन तो पूरा मिल रहा है फिर अखबार छपे या न छपे इससे आपको क्या लेना-देना?"

"क्षमा कीजिए मैं उन लोगों में नहीं जो बिना काम वेतन लेते हैं। मुझे स्वयं यह महसूस हो रहा है कि- मैं अपने साथ न्याय नहीं कर पा रहा हूँ इसलिए नौकरी छोड़ रहा हूँ। आपसे मुझे कोई शिकायत नहीं है।" रमेश मगन ने बहुत

समझाया लेकिन मैं उससे नमस्ते करके चला आया। दोस्तों ने मेरा मजाक उड़ाया कि अजीब पागल हो, अच्छी-भली नौकरी पर लात मार दी।

नौकरी छोड़कर अपनी पूरी ऊर्जा लेखन में लगाने का निश्चय किया। रोज लिखता और रोज पोस्ट करता। थोक के भाव लिफाफे ले आया उन पर बुक-पोस्ट की सील लगाता टिकट चिपकाता और रख देता। जब रचना भेजनी हो तो लिफाफे के बंडल से दो लिफाफे निकालता एक रचना भेजने के लिए और एक वापसी के लिए यदि संपादक रिजेक्ट करे तो दूसरी जगह उसका उपयोग कर लिया जाए। सृजन का आनंद सबसे बड़ा था।

उन दिनों सुश्री मृणाल पांडे 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की संपादक थीं इसके पहले वे टाइम्स ऑफ इंडिया समूह की पहली महिला पत्रिका 'वाया' की संपादक थीं। 'बामा' का पहला अंक खरीदा। प्रिंट लाइन में लिखा था संपादिका मृणाल पांडे। बस इतना पढ़ते ही मैंने एक पत्र मृणाल जी को लिखा- "आप स्त्री को पुरूष के समक्ष मानती हैं लेकिन संपादक की जगह 'संपादिका' लिखकर आपने यह संकेत दिया है कि आप स्त्री हैं, जबकि संपादिका कोई पद ही नहीं होता। पद के साथ लिंग नहीं चलता यदि ऐसा होता तो श्रीमती गांधी स्वयं का प्रधान मंत्राणी लिखती।" मेरा पत्र 'वामा' में मृणाल जी ने छापा और स्वयं को संपादक लिखना शुरु कर दिया उन्होंने मेरे पत्र का उत्तर भी व्यक्तिगत रूप से दिया। मृणाल जी ने 'वामा' में मेरा व्यंग्य छापा। जब वे 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की संपादक बनी तब भी उन्होंने सकृपा मुझे छापा।

उन दिनों मैंने एक व्यंग्य कथा 'पत्थर महकमा चिड़िया और प्यारेलाल' लिखी इसे 'सरिता' और साप्ताहिक हिन्दुस्तान दोनों जगह भेज दी। मृणाल जी ने फौरन स्वीकृति का पत्र भेज दिया। एक महीने बाद 'सरिता' से स्वीकृति पत्र आ गया। अब मैं दुविधा में कि कहाँ छपवाऊं? कहाँ रूकवाऊं। मित्रों से राय माँगी तो सबने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपने की बात कही। मैंने फौरन 'सरिता' के संपादक को खेद सहित पत्र लिखकर रचना न छापने का आग्रह किया। मेरे इस अनुरोध को 'सरिता' के संपादक ने सहजभाव से स्वीकार कर लिया।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का जब अंक आया तो मैं यह देखकर अभिभूत हो गया कि 'महानगरीय जीवन' पर केन्द्रित पांच कहानियां इस अंक में प्रकाशित की गईं थी इसी में मेरी व्यंग्य कथा प्रकाशित की गई थी। मेरे अलावा चारों कथाकार काफी वरिष्ठ और प्रतिष्ठित थे जबकि कहानी लेखन के मामले में बिल्कुल अनाड़ी।

मृणाल जी के संपादन का मैं भक्त हो गया। उसी वक्त मैंने मृणाल जी को आभार पत्र भी लिखा। यह मेरा दुर्भाग्य रहा कि कभी रूबरू मृणाल जी से

भेंट का मौका नहीं मिला अन्यथा मैं उनके चरण स्पर्श करके पुण्य कमा लेता। एक उभरते और नए लेखक के साथ इस तरह का सद्भाव केवल स्व. धर्मवीर भारती और मृणाल जी ही रखते थे अन्यथा गंजे जैसे कुंठित संपादकों की देश में कमी थोड़े ही है।

एक दिन डाक से गंजे का पत्र आया। लिखा था- "अधबीच' की तरह हम दैनिक सूरज' में बीचों बीच नाम से व्यंग्य स्तंभ शुरू कर रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि पहला व्यंग्य आपका छपे और महीने में चार व्यंग्य आपके नियमित छपें। पारिश्रमिक की व्यवस्था हो गई है। एक व्यंग्य का पारिश्रमिक अन्य के लिए 30 लेकिन आपके लिए 45 रुपए है। यदि संभव हो तो पत्र पाते ही अपना व्यंग्य लेकर प्रेस आ जाओ मैं दो बजे से रात नौ बजे प्रेस में ही मिलूंगा।"

गंजे का पत्र पाकर खुश हुआ। मन ने स्वीकारा- भले ही गंजा ईर्ष्यालु है लेकिन शुभचिंतक भी है अन्यथा मुझे पत्र क्यों लिखता? मैं कोई परसाई या शरद जोशी तो नहीं था।

एक ताजा व्यंग्य लेकर मैं एक हफ्ते बाद गंजे के पास पहुँचा। "भाई साहब। नमस्कार" मैंने केबिन का दरवाज़ा खोलते हुए कहा।

"आइए लेखन सम्राट आइए। आपको मेरा पत्र मिल ही गया होगा। मुझे आपका ही इंतजार था। व्यंग्य लाये कि नहीं? अरे! भाई शुरूआत आपसे ही करनी है।"

"जी, ले आया। आप आदेश दें तो मेरी क्या मजाल कि आपकी बात टाल सकूं।"

"खूब छाए हुए हो। सब जगह छप रहे हो।"

"आप जैसे उदार संपादकों की कृपा है, अन्यथा यह बंदा किस काम का।"

गंजे का अहं संतुष्ट हुआ। वह हा-हा करके हंस पड़ा।

"व्यंग्य दीजिए।" गंजे ने कहा।

"यह लीजिए।"

गंजा पढ़ने में व्यस्त हो गया। मैं चुपचाप उसक चेहरे पर आए भावों के उतार-चढ़ाव की रीडिंग लेता रहा। पूरा व्यंग्य पढ़ने के बाद गंजा बोला-

"सच कहूँ या झूठ?"

"आप सच ही कहिए।"

"व्यंग्य में मजा नहीं आया। कल तक दूसरा लिखकर लाओ। मैं चाहता हूँ कि कॉलम की शुरूआत धमाकेदार हो लोगों को लगे कि हमारा 'बीचो बीच' 'अधबीच' से किसी भी तुलना में कमजोर न पड़े बल्कि भारी पड़े।" गंजे का कथन सुनकर गुस्सा तो इतना आया कि अभी पैर से सेंडिल निकालकर चार-

पांच इसके सिर पर दे मारूं लेकिन संपादक और लेखक में जो अंतर होता है, उसे सोचकर और 180 रुपए नियमित होने वाली भावी इनकम के बारे में सोचकर·अपना मूड़ और पैंतरा बदलकर बोला

"ठीक है भाई साहब कल दूसरा व्यंग्य लेकर हाजिर होता हूँ।"

"चाय लेंगे?"

"पिलवा दीजिए। अब चाय से ही गम गलत करते हैं।"

"आप बुरा तो नहीं माने?"

"मैं खुद पांच साल दो साप्ताहिकों का संपादक रह चुका हूँ। संपादक का यह मौलिक अधिकार है कि किसे छापे और किसे रिजेक्ट कर दे। अब तो मेरी आदत में शुमार हो गया है। पहले रचना लौटकर आती थी तो संपादक को जूते मारने की इच्छा होती थी लेकिन अब बेशर्म हो गया हूँ। स्वीकृति और अस्वीकृति का मुझ पर अब कोई असर नहीं होता।"

"आपने अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भड़ास निकाल ही डाली।" गंजे ने फिर हा-हा कहा। पूरी केबिन उसके अट्टहास से गूंज गई। गंजे की चाय पीकर बाहर आया मेरे हाथ में अस्वीकृत व्यंग्य था और मन में छटपटाहट। घर आकर दूसरा व्यंग्य लिखा और उस अस्वीकृत व्यंग्य को 'नई दुनिया' को पोस्ट कर दिया।

दूसरे दिन 3 बजे मैं फिर गंजे के समक्ष हाजिर था।

"हाँ। अब आए आप अपनी रंगत में आपका यह व्यंग्य स्वीकृत है, अन्यत्र न भेजें औरहां हर सोमवार व्यंग्य स्वयं दे जाएं या किसी के हाथ भिजवा दें।"

"धन्यवाद। इजाजत दीजिए।"

"ठीक है फिर मिलिएगा।"

मैं विदा लेकर घर आ गया और लेखन में जुट गया। उन दिनों 'दैनिक सूरज' बड़ी तेजी से अपनी प्रसार संख्या बढ़ा रहा था। इंदौर से भी इसका संस्करण निकलना शुरू हो गया था। उस समय भोपाल में 'नव भारत' पहले नंबर पर और इंदौर 'नई दुनिया' दूसरे नंबर पर थी। 'दैनिक सूरज' अब दूसरे नंबर की ओर लपक रहा था। राजधानी का पूरा बुद्धिजीवी वर्ग अभी भी 'नई दुनिया' से जुड़ा था। राजेन्द्र माथुर 'नई दुनिया' छोड़कर नवभारत टाइम्स' चले गए थे लेकिन नईदुनिया अभी भी बेहतर निकल रही थी। मैं भी 'नईदुनिया' ही पढ़ता था। इंदौर से आता था अतः कभी-कभी देर में आता था और बारिश के दिनों में तो और भी देर में और कभी-कभार दूसरे दिन इकट्ठे दो पेपर आते लेकिन 'नई दुनिया' पढ़े बिना चैन नहीं मिलता था।

मुझे लेखक बनाने में नई दुनिया का बहुत बड़ा हाथ रहा। पहली कहानी जब लिखी तो उस समय प्रसिद्ध कहानीकार प्रभु जोशी 'नई दुनिया' से जुड़े हुए थे। मैंने केवल अपनी उस कहानी पर उनकी राय जानने के हिसाब से उन्हें पत्र लिखा कि आप कहानी पढ़कर अपनी राय से अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो मैं कृतज्ञ होऊंगा। अपनी राय कहानी के साथ संलग्न लिफाफे में वापस भेजने की कृपा करें।

प्रभु दा से भोपाल में पहली बार परिचय हुआ। वे आकाशवाणी इंदौर से ट्रांसफर होकर भोपाल आए थे। उन दिनों चारइमली स्थित ख्यात व्यंग्कार अंजनी चौहान के आवास में उनके साथ रहा करते थे। एक कार्यक्रम के प्रसारण के सिलसिले में आकाशवाणी जाना हुआ तो वहाँ अधिकारी के रूप में प्रभुदा को पाकर प्रसन्नता हुई। प्रभु दा से लंबी चर्चा होती रही। मैं उनके लेखन का शुरू से मुरीद था। प्रभु दा बोले- "आपके जितने चेले-चपाटे अच्छा लिखते हों, उन सबको मेरे पास भिजवाओ। सबको कांटेक्ट दे दूंगा। मैं चाहता हूं कि नई प्रतिभाएं सामने आए।" प्रभु दा की उदारता छलककर सामने आ गई। मेरा यह सौभाग्य रहा कि जीवन में ज्यादातर अच्छे लोगों से मेरा मिलना हुआ। प्रभु दा भी उनमें से एक थे।

मैंने अपने सारे चेले-चपाटों को प्रभुदा के पास भेजा और प्रभु दा ने सबको पहली बार आकाशवाणी पर मौका दिया। सारे चेले-चपाटे गद्‌गद् हो गए। मैं प्रभु दा के प्रति कृतज्ञ हुआ।

हॉ! तो वह कहानी मैंने प्रभु दा को पोस्ट कर दी। कोई जवाब नहीं। एक दिन सरोजकुमार जी की चिट प्राप्त हुई- "प्रभु जी को भेजी आपकी कहानी नई दुनिया के रविवारीय अंक के लिए स्वीकृत कर ली गई। यथा समय इसका प्रकाशन किया जाएगा।" सरोज जी का पत्र पाकर एक गहरा संतोष हुआ कि प्रभु दा ने मेरी कहानी पास ही नहीं की अलबत्ता उसे प्रकाशित भी करा रहे हैं। इस तरह मेरी लिखी पहली कहानी 'नई दुनिया' में ही छपी।

दिन मजे से कट रहे थे स्कूल जाता। आपने पीरियड पढ़ाता और 12 बजे घर आ जाता। भोजन के बाद तनिक विश्राम फिर लेखन-पठन-पाठन।

"दैनिक सूरज" में हर हफ्ते व्यंग्य छपने के मुझे कई लाभ एक साथ मिले। पहला तो यह कि लेखन में नियमितता एवं अनिवार्यता आई। पाठकों की प्रतिक्रिया के कारण आत्मविश्वास भी बढ़ा। व्यंग्य के अलावा अब मैंने कहानियां भी लिखनी शुरू कर दीं। तीसरा फायदा यह हुआ कि हर माह 180 रुपए की इनकम बढ़ गई। बाहर के अखबारों से तकरीबन रोज ही चैक, ड्राफ्ट या एम.ओ. आते। रोज डाक आती जिसमें अखबार, पत्र पत्रिकाएं होते।

मुझे अब अहसास होता कि लेखन को लगातार मान्यता मिलने लगी थी इसलिए मुझमें अहं भी आ गया था। मुझे इसका तनिक भी भान नहीं हो पाया कि मुझमें धीरे-धीरे खतरनाक किस्म के बदलाव आते जा रहे हैं। स्वाभिमान तो मुझमें पैदाइश ही था। मैंने बचपन में ही कहीं-कभी पढ़ रहा था कि- "दया के नहीं, ईर्ष्या के पात्र बनो।" इस वाक्य को सदैव मैंने कार्यरूप देने की कोशिश की लेकन कम उम्र में मिली ज्यादा सफलताओं ने मेरे अहं को उकसाया। उस समय अपनी गलती पता नहीं चली।

'दैनिक सूरज' में हर हफ्ते 'बीचो बीच' कॉलम में व्यंग्य आते। 'पंजाब केसरी' में हर शुक्रवार। कई बार फोटो सहित व्यंग्य भी छपे भोपाल के 'दैनिक संचरण' में अविनाश था पहले 'दैनिक सूरज' में कई साल रहा। पार्ट टाइम में अग्रवाल साहब के अखबार में मेरे साथ काम किया था।

अविनाश से पहली मुलाकात दैनिक सूरज में हुई थी। अविनाश बेहद जिंदादिल इंसान और जोरदार कमेंट्स देना जानता था। अविनाश बहुत पैने कार्टून बनाता था। देवेन्द्र के बाद मुझे उसके कार्टून शुरू से पंसद थे। वाक्पटु अविनाश गंभीर से गंभीर हालातों में भी लोगों को हंसने पर मजबूर कर देता था। जब वह दैनिक संचरण" में पहुँचा तो उसने अपने मालिक को इस बात के लिए राजी कर लिया कि- एक व्यंग्य रोज 'दैनिक संचरण' में छापा जाए। अविनाश यह प्रस्ताव लेकर मेरे पास आया और मुझसे कहा- कल 11 बजे प्रेस आ जाएं। अखबार के मालिक और संपादक आपसे व्यंग्य स्तंभ के बारे में बात करना चाहते हैं।"

"ठीक है, कल 11 बजे पहुँच जाऊंगा।"

"हुआ यह कि एक दिन 'पंजाब केसरी' में आपका छपा हुआ व्यंग्य मालिक ने काटा और उसे कंपोज करने के लिए सैनी को दे दिया। सैनी वह व्यंग्य लेकर मेरे पास आया कि- "यह तो संवेद जी का व्यंग्य है। वे देखेंगे तो 'संचरण' पर चोरी का इल्जाम लगा देंगे। मैं उनके साथ साप्ताहिक में काम कर चुका हूँ, उनका नेचर अच्छी तरह जानता हूँ" सैनी के हाथ से वह कतरन लेकर मैं मालिक के पास पहुँचा उन्हें बताया कि यह व्यंग्य संवेद जी का है। चुराकर छापने में खतरा है। आप कहें तो हम उन्हें संचरण के लिए लिखने का प्रस्ताव भिजवा दें। मालिक राजी हो गए और तय हुआ कि रोज एक व्यंग्य लिखवाया जाए। आप कल आ जाए तो फायनल हो जाए। "अविनाश ने पूरा प्रसंग व्याख्या के साथ सुना दिया। चाय-पान के बाद वह चला गया लेकिन साथ ही इस सोच में पड़ गया कि क्या मैं एक व्यंग्य रोज लिख पाऊंगा या नहीं। खैर! देखा जाएगा। कोशिश करूंगा।

दूसरे दिन 11 बजे मैं अविनाश के केबिन में पहुँच गया। वह मेरे आने की सूचना देने मालिक के पास चला गया। वह लौटकर आया तो मुझे साथ ले गया। नमस्कार के आदान प्रदान के बाद बात असली मुद्दे पर आई।

"आप हमारे लिए रोज एक व्यंग्य लिखें।"

"ठीक है। लिख दूंगा।"

"हम आपके व्यंग्य को देखेंगे।"

संपादक अंबादास ने कहा।

"आप क्या देखेंगे मेरे व्यंग्य को?

आपने कभी व्यंग्य लिखा है अपनी जिंदगी में? मेरे व्यंग्य डॉ. धर्मवीर भारती, मनोहर श्याम जोशी, मृणाल पांडे और राजेन्द्र माथुर देख चुके हैं। आप क्या खाक मेरे व्यंग्य देखेंगे?" मैं यकायक उखड़ गया। मालिक और अविनाश ने बात संभालने की बहुत कोशिशें की लेकिन मेरा थोथा अहं जागृत हो चुका था और वह शांत होने के नाम नहीं ले रहा था। संपादक अंबादास सुन्न बैठे रहे। मैं उठकर मालिक के कमरे से बाहर आ गया।

आज उक्त घटना को याद करके मुझे एहसास होता है कि मेरे अहं का यह एक विनाशकारी उदाहरण था। अंबादास विद्वान थे। बुजुर्ग थे। मुझे उनकी बात पर इस तरह से नहीं उखड़ना था आखिर उन्होंने कहा ही क्या था? अखबार में जो में जो छपने जा रहा हैं उसे संपादक नहीं देखेगा तो कौन देखेगा? यह बात उस समय समझ से परे थी।

गंजे ने मेरा जो व्यंग्य लौटाया था वह 'अधबीच' में छप गया था। उसका फोन आया- "आपका 'अधबीच' पढ़ा। यह पढ़ा हुआ लगा। क्या आपने पहले इसे 'दैनिक सूरज' में छपवाया था?"

"हुजूर यह वही व्यंग्य है जिसे आपने रिजेक्ट किया था। चूंकि बड़ी शिद्दत से वह व्यंग्य मैंने उसी दिन 'नई दुनिया' को पोस्ट कर दिया और आज वह छप गया। आपके और उनके टेस्ट में शायद यही मूल अंतर है।"

"अच्छा! देखिएगा हमारे 'बीचों बीच' का स्तर कितना ऊंचा है कि उसने हमारे द्वारा रिजेक्ट किया व्यंग्य छाप दिया। अब तो मान गए आप हमारे चयन को।"

"धन्य हैं आप प्रभु!" कहकर मैंने फोन बंद कर दिया।

■

